वर्ष 1, अंक 1 अगस्त, 1985

दर्शन-प्रतिष्ठान

की

पत्रिका

उन्मीलन

सम्पादक :

यशदेव शल्य

सहयोगी

गोविन्द चन्द्र पांडेय, दयाकृष्ण, राजेन्द्र पांडेय

वार्षिक शुल्क : व्यक्ति रु० 20.00

संस्थाएँ रु० 40.00

1

सम्पादकीय

मेरे द्वारा हिन्दी में यह चौथी दार्शनिक पत्रिका के प्रकाशन का उपक्रम है। इससे पहले मैंने **दार्शनिक त्रैमासिक, तत्त्वचिन्तन** तथा **दर्शन-समीक्षा** पत्रिकाओं का क्रमशः 1954, 1968 तथा 1971 में प्रकाशन–सम्पादन आरम्भ किया था। **दर्शन-समीक्षा** एक सरकारी पत्रिका थी और वह चार वर्ष बाद सरकारी कुतंत्र के ही बलि चढ़ गई, **तत्त्वचिन्तन** तीन वर्ष बाद कुछ व्यावहारिक कारणों से बन्द कर दी गई। **दार्शनिक त्रैमासिक** देर तक चली, जिसका सम्पादन-कार्य मैंने अन्तिम रूप से 1978 में छोड़ा। इन तीनों पत्रिकाओं में मेरा एकमात्र उद्देश्य हिन्दी भाषा का उत्कर्ष करना, उसे राष्ट्रभाषा होने के योग्य बनाना था। किन्तु प्रश्न हो सकता है, केवल हिन्दी-भाषा के उत्कर्ष से ही क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ? क्या यह अपने-आप में प्रयोजन होने, साध्य होने, के लिए पर्याप्त है ? इस पर तब न मैंने कभी विचार किया था और न उन दूसरे सहयोगियों ने जो **अखिल भारतीय दर्शन परिषद्** के निर्माण में मेरे साथ सम्मिलित हुए थे। किन्तु आज लगता है कि यह स्वयं में उद्देश्य होने योग्य बात नहीं है। यह एक व्यापक उद्देश्य का अंग मात्र, अथवा कहें उसका एक चरण मात्र, हो सकती है। **उन्मीलन**, जिसका यहां अभीष्ट अर्थ है "चित्त-दृगों का भीतर की ओर खुलना", का आरम्भ "हिन्दी का उत्कर्ष" पद में निहित गम्भीर और व्यापक तात्पर्य के सम्यक् मनन के साथ किया जा रहा है। यद्यपि इस मनन से उपलब्ध अर्थ में कोई नयी बात नहीं है, यह अर्थ वही है जो हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करने में गांधीजी का था : भारत को उसकी अपनी आत्मा में, अपने स्वरूप में, प्रतिष्ठित करना। किन्तु **दार्शनिक त्रैमासिक** तथा **दर्शन परिषद्** में वह अर्थ भुला दिया गया था। उनमें यह मान लिया गया था जैसे हिन्दी भाषा का प्रचलन ही अपने-आप में उद्देश्य होने के लिए पर्याप्त है। उसमें क्या लिखा जाता है, इससे जैसे कोई अन्तर नहीं पड़ता। यह भूल इसके बावजूद थी कि 'हिन्दी-प्रेम' जैसे शब्द उस समय भी मेरे लिए उपहासास्पद थे। वास्तव में मैंने स्वयं उस समय हिन्दी में **दार्शनिक विश्लेषण पुस्तक**

तथा अन्य बहुत कुछ लिखकर इसका स्पष्टतम उदाहरण प्रस्तुत कर दिया था कि मैं और दूसरे अधिकांश लोग 'हिन्दी के उत्कर्ष' के वास्तविक अर्थ के सम्बन्ध में कितने भ्रांत हैं। (किसी भारतवासी द्वारा पाश्चात्य दर्शन पर परिचयात्मक या आलोचनात्मक पुस्तक लिखना एक बात है, उसके विचार-प्रवाह में एक धारा बनने का प्रयत्न एक सर्वथा दूसरी बात है।)

किन्तु यह भ्रांति आकस्मिक और केवल मेरी, या कुछ लोगों की ही, नहीं थी, इसके पीछे एक बहुत गहरी वस्तुस्थिति थी। वस्तुस्थिति यह थी कि स्वामी दयानन्द या महात्मा गांधी ने जिन परिस्थितियों में हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित किया था उसका सन्दर्भ बिल्कुल बदल गया था : उन घोषणाओं के समय हम राजनीतिक पराधीनता में थे और दर्शन परिषद् के स्थापना-वर्ष (1955) में राजनीतिक स्वाधीनता पाने की स्मृति अभी ताज़ा थी और हम अपने भूतपूर्व स्वामियों की बराबरी पा लेने के लिए उतावले थे। यहां इस सर्वसम्मत वस्तुस्थिति की चर्चा का विस्तार नहीं कर हम इतना ही कहना चाहेंगे कि इसका मूल बहुत गहरी पैठी हीनता-ग्रंथि में था जो प्रायः प्रायः अंग्रेज़ों द्वारा भारत-विजय के साथ ही भारतीय मानस में घर कर गई थी और जो राजनीतिक स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद और अधिक व्यापक और गहरी हुई थी, घटी नहीं थी।

किन्तु यहां कहा जा सकता है कि "अंग्रेजों के आने तक भारतीय संस्कृति भी कोई जीवित मानसिकता नहीं रही थी, यह बहुत कुछ मृत परम्परा हो चुकी थी। यूरोपीय संस्कृति की चुनौती ने भारतीय समाज को झकझोर कर नयी चेतना ही दी थी जिसके परिणामस्वरूप इस देश में वैचारिक, सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनों का सूत्रपात हुआ। उसी प्रक्रिया में आज भी हम हैं। यदि इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप हम आगे पाश्चात्य मानसिकता को अधिकाधिक अपना लेते हैं और तथाकथित भारतीय मानसिकता को छोड़ बैठते हैं तो इसमें बुराई भी क्या है ?"

मैं समझता हूं कि यह मूल प्रश्न है जो जाने-अनजाने उन लोगों के चेतन-अवचेतन में विद्यमान है जो भारतीय परम्परा को उससे बड़े खतरे के रूप में देखते हैं जितना बड़ा खतरा उनके विचार में हमें विदेशी सांस्कृतिक दासता से है। यहां पहले अपनी परम्परा की दासता से खतरे का प्रश्न लेना उपयुक्त होगा। इसका पहला उत्तर है कि जब कोई भारतीय परम्परा से सम्बन्धित रहने की बात करता है तब अधिकांशतः उसका आशय उस परम्परा से नहीं होता जिसकी दासता से खतरे की बात ये लोग करते हैं। इसका प्रमाण वे सब सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आंदोलन हैं जो भारतीय चेतना को जागृत करने के लिए पिछली शताब्दी में हुए। इन आंदोलनों के प्रवर्तकों में से किसी ने भी अपने को उस परम्परा से नहीं जोड़ा जो उस समय विचार और व्यवहार में थी और इस प्रकार जिससे सहज रूप में वे जुड़े हुए थे : उन्होंने उसे सड़ा हुआ पाया था और उसी के विरुद्ध आवाज़ उठायी थी : उन्होंने उस परम्परा से अपने को जोड़ा था जो शताब्दियों पहले लुप्त हो चुकी थी और परिणामस्वरूप जिसके देह से : बाहरी आकार से : नहीं बल्कि केवल आत्मा से **सृजनात्मक कल्पना के द्वारा** ही सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता था। अपने **सांस्कृतिक आत्म तत्त्व से** सृजनात्मक कल्पना के द्वारा इस प्रकार सम्बन्ध की स्थापना बहुत कुछ उसी प्रकार का कर्म

है जिस प्रकार का कर्म व्यक्ति अपने अविचारित जीवन-क्रम में किसी ठेस से जागकर अपने स्वरूप से, अपनी सच्ची निजता से, अपनी ऑथंटिक बींग से, सम्बधित होने के रूप में करता है : जैसा बुद्ध ने रोग और मृत्यु के "साक्षात्कार" से जागकर किया था, अथवा स्वामी दयानन्द ने देव-मूर्ति पर चढ़े चूहे के "दर्शन" से जागकर किया था, या महात्मा गांधी ने रेल गाड़ी में एक अंग्रेज सहयात्री से पिटने पर "अपमान" से जागकर किया था। एक दूसरे प्रकार के जागरण का उदाहरण अपने एक लेख में प्रोफेसर राजेन्द्रप्रसाद ने आनन्दमूर्ति लिखित एक नाटक **संस्कार** के नायक प्राणेशाचार्य के उदाहरण द्वारा दिया है।[1] वह वास्तव में बहुत अच्छा प्रति-उदाहरण है जो उस मानसिकता को प्रकट करता है जो आज के दृष्टि-विहीन परम्परा-त्याग के मूल में निहित है। प्राणेशाचार्य अपनी शुद्ध कामुकता के सुख को निर्विघ्न भोगने के लिए अपनी शास्त्र द्वारा बन्द दृष्टि को अब कामुकता द्वारा बन्द करता है। इस प्रकार यह आवरण का हटना नहीं है बल्कि एक दूसरे और कहीं अधिक भयानक आवरण का पड़ना है, क्योंकि पहले आवरण में केवल जड़ता थी, दूसरे में सक्रिय अन्धता है। हमारे देश में वास्तव में यही हुआ है : आदर्श-विहीन चतुर वर्ग ने विदेशी स्वामियों से पुरस्कार पाने और देशी लोगों पर रौब जमाने के लिए देशी शास्त्र छोड़ कर विदेशी शास्त्र उसी मनोवृत्ति से अपनाया जिससे प्राणेशाचार्य ने चन्द्री को।

यहां अवान्तरत: इसका उत्तर भी दिया गया कि कौनसी भारतीय संस्कृति अभीप्स्य है। वास्तव में "भारतीय संस्कृति" का अर्थ आज सामान्यत: उस मृत परम्परा को मान लिया गया है जिसका प्रतिनिधित्व गाँठ बँधी चोटी, ढोरों द्वारा चरे गए घास जैसी दाढ़ी, और घुटनों तक उठी मैली धोती वाले वे पण्डित करते हैं जो पुराने ग्रंथों के पाठ से आगे कुछ नहीं जानते। इसी प्रकार 'भारतीय दर्शन' का अर्थ हो गया है, जो कुछ शताब्दियों पहले लिखा गया था। इसका अर्थ हो जाता है कि हम आज भारतीय संस्कृति से प्राणेशाचार्य की तरह ही सम्बन्धित हो सकते हैं और परिणामत: जिससे मुक्ति उससे भी अधिक आवश्यक है जितनी विदेशी पराधीनता से। किन्तु यह संस्कृति नहीं है। संस्कृति परंपरा अवश्य होती है किन्तु केवल भविष्योन्मुख, सृजनात्मक परंपरा ही; ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार प्राणी वही होता है जो बीज से और जातिता के सहित उत्पन्न होता है किन्तु साथ ही जो स्वयं उत्पादन-समर्थ और विशिष्ट व्यष्टि भी होता है। इस प्रकार कालिदास, शंकर या भरतमुनि के ग्रंथों में अभिव्यक्त काव्य, विचार या विधिशास्त्र तभी संस्कृति है यदि वह आज मेरे सर्जनात्मक कर्म में खाद का काम कर सकता है। इस प्रकार अपनी सांस्कृतिक परंपरा से सम्बन्धित होने

1. द्रष्टव्य इंडियन फिलासफीकल क्वार्टरली, वर्ष 11, अंक 4, "स्वराज इन आइडियाज" विशेषांक में डा० राजेन्द्रप्रसाद का लेख। यह लेख बहुत विचारपूर्ण और बहुत सुन्दर लिखित है। इस लेख में प्रोफेसर प्रसाद ने कृष्णमूर्ति के नाटक संस्कार का उल्लेख किया है जिसका नायक प्राणेशाचार्य सब कुछ शास्त्रानुसार ही करता है। एक बार उसके सामने एक सामाजिक-नैतिक विद्रोही के दाह संस्कार का प्रश्न आता है कि वह किस विधि से किया जाय। वह शास्त्र-ग्रंथ देखता है किन्तु वहां उसे कोई निर्देश नहीं मिलता और परिणामत: वह उस विद्रोही के दाह-संस्कार के लिए कोई निर्देश नहीं दे पाता। पीछे यही ब्राह्मण उस विद्रोही की रखेल शूद्र जातीया चन्द्री के प्रति कामासक्त होता है और उससे मैथुन करता है। तब उसे अपने पिछले अन्ध शास्त्रानुसरण की मूर्खता का ज्ञान होता है।

का अर्थ है एक जीवित समाज की मानसिकता में, जीवित मूल्यों के सनातन बोध में, प्रतिष्ठित होना। और सौभाग्यवश अभी काफी लोग इस देश में हैं जो इस प्रकार परंपरा में प्रतिष्ठित हैं। काव्य में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, रवीद्रनाथ ठाकुर, प्रसाद, निराला, महादेवी, अज्ञेय आदि जितने नाम चाहें; दर्शन में श्री अरविन्द, जड्डु कृष्णमूर्ति, कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, गोविन्दचन्द्र पांडे, और कुछ दूसरे यद्यपि बहुत कम लोग, जो विदेशी विचार-परंपरा से स्वतंत्र दार्शनिक चिन्तन करते हैं। धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में तो बहुत से नाम हैं, और कुछ ऐसे जिन पर कोई भी समाज गर्व कर सकता है।

ऐतिहासिक रूप से एक सांस्कृतिक मानसिकता प्रायः अभ्यस्त सरणियों में गतानुगतिक रूप में प्रवाहित रहती है जबतक कि आनुगतिकता प्रवाह से बहुत विसंगत होकर बहुत अखरने नहीं लगती। तब कोई क्रांत-चेता प्रकट होता है जो परंपरा का नव-सर्जन करता है। यह सांस्कृतिक नेता इतना नया होता है कि उसके समकालीन प्रायः ही उसे अधर्मी, अनैतिक आदि के रूप में देखते हैं, किन्तु साथ ही वह इतना परंपरानुसारी होता है कि बाद वालों को उसमें प्राचीन से कुछ भी भिन्न दिखायी नहीं देता। महात्मा बुद्ध की उपनिषदों से अनुरूपता और शंकर की महायान दार्शनिकों से अनुरूपता सर्वविदित है। वास्तव में क्रान्तदर्शियों में ये दोनों पक्ष ठीक ही देखे जाते हैं। किन्तु उनमें प्राचीन से अनुरूपता में एक बहुत महत्त्वपूर्ण विशेषता होती है और वह यह कि उनका प्राचीन परंपरागत नहीं होकर वह मूल होता है जिससे सांप्रतिक परंपरा उद्‌गत तो हुई होती है किन्तु जिसका अर्थ खो कर वह उसका आकार शेष रह गई होती है। वह मूल साक्षात्कारात्मक होता है जबकि परंपरा उपाधिभूत होती है। क्रान्त द्रष्टा उस मूल में अपने को सृजनात्मक कल्पना द्वारा पुनः प्रतिष्ठित करता है और नयी परंपरा के लिए नयी उपाधियों का आविष्कार करता है। यह दृष्टि-परम्परा ही सनातन सांस्कृतिक परंपरा होती है, वह नहीं जो दृष्टि-विहीन गतानुगतिकता में प्राप्त होती है। इसमें बाहर के प्रभाव भी आते हैं, कभी चुनौती के रूप में और कभी पूरक के रूप है, किन्तु कभी-कभी सांस्कृतिक अस्मिता के विनाशक के रूप में भी—"यूनानो मिश्र रोमा, सब मिट गए जहां से"—किन्तु सभी समाज इन आक्रमणों से अपनी संस्कृति या अस्मिता की रक्षा के लिए भरसक जूझते हैं।

अब यहां प्रश्न है : जो प्रश्न हमने आरंभ में उठाया था : कि सांस्कृतिक अस्मिता को बचाना क्या अपने-आप में मूल्य है याकि संस्कृति विशेष के मूल्यवान् होने से ही सांस्कृतिक अस्मिता मूल्यवान् या रक्षणीय होती है? इसका इतने संक्षेप में उत्तर नहीं दिया जा सकता जितने के लिए यहाँ स्थान है, यद्यपि सब प्राणि-जातियों और आदिम जीवन-विधियों को अक्षुण्ण बनाये रखने को अपने-आप में मूल्यवान् मानने वाले इस युग में इसका उत्तर एक ही वाक्य में देने में कोई दुविधा नहीं होनी चाहिए। किन्तु जहां तक भारतीय अस्मिता की रक्षा का प्रश्न है, उसका उत्तर सहज है। यह उत्तर है कि कोई समाज किसी संस्कृति से ही परिभाषित होता है और वही उसे अस्मिता के रूप में धारण करती है। जहां तक यह अस्मिता जीवन्त और सप्राण होती है वहीं तक यह समाज अन्तर्गठित और अन्तर्व्यवस्थित होता है और जहां तक यह क्षीण होती है वहीं तक वह गठन और व्यवस्था से रहित होता है। इस प्रकार भारतीय अस्मिता की रक्षा इसलिए अपेक्षित नहीं है कि भारतीय संस्कृति अन्य संस्कृतियों

से श्रेष्ठ है, ऐसी बात का कोई अर्थ नहीं है, जैसे मेरी व्यक्तिगत अस्मिता इसलिए रक्षणीय नहीं है कि मैं अन्य सब से श्रेष्ठतर हूं, बल्कि इसलिए रक्षणीय है कि मैं अन्य के अनुकरण से केवल अपने को खो सकता हूं, अन्य की श्रेष्ठता को नहीं पा सकता। और श्रेष्ठता प्रत्येक अस्मिता की अपनी संभावनाओं के क्रियान्वयन में ही होती है, जो संभावनाएं किसी अन्य अस्मितागत संभावनाओं से न्यूनतर नहीं होतीं।

भारत की वर्तमान स्थिति यह है कि इसमें अभी भी एक उच्च सांस्कृतिक परंपरा जीवित है और इसने बाहरी सांस्कृतिक चुनौतियों का सामना करने की सामर्थ्य भी दिखायी है। इस संस्कृति को कोई दूसरी संस्कृति विस्थापित कर सकेगी, ऐसा समाजवैज्ञानिक रूप से संभव प्रतीत नहीं होता। तुर्की जैसे सरल, छोटे और प्रसुप्त समाज में भी, और मुस्तफा कमाल जैसा प्रभावशाली शासक भी, यह नहीं कर सका, भारत तो फिर बहुत जटिल, बहुत विशाल, और सांस्कृतिक रूप से पर्याप्त बद्धमूल समाज है। किन्तु हम इसकी अस्मिता को, इसकी चेतना-धारा को, इसके चिन्तन को घपला अवश्य सकते हैं, इसके मार्ग को विषम-कुटिल अवश्य बना सकते हैं; अथवा विषम बने मार्ग को पुनः सरल भी बना सकते हैं। ये अकार्य और कार्य दोनों किसी समाज के अग्रणी ही कर सकते हैं। हमारे देश में अंग्रेज़ी राजा ने शिक्षा-पद्धति द्वारा ऐसी व्यवस्था कर दी थी कि अग्रणी पैदा ही अकार्य करने के लिए हों। अवश्य उनकी इस व्यवस्था का तत्कालीन भारत ने कुछ प्रतिरोध भी किया था : महात्मा गांधी ने आध्यात्मिक और बौद्धिक सब स्तरों पर स्वदेशी के स्वीकार और विदेशी के बहिष्कार का आह्वान किया। किन्तु स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद गांधी जी और उनकी दृष्टि दोनों का गला घोट दिया गया और यूरोपीय संस्कृति के बजाय अमरीकी असंस्कृति की बाढ़ सी आ गई। **संस्कार** नाटक की चन्द्री हमारे मानस में उतर कर छा रही इस असंस्कृति की बहुत सटीक प्रतीक है।

यहां महात्मा गांधी के स्वदेशी-आन्दोलन की मूल दृष्टि का स्मरण स्थाने होगा। गांधीजी से अधिक सार्वभौम व्यक्ति इस युग ने कोई दूसरा उत्पन्न नहीं किया होगा। किन्तु सार्वभौमता का तत्त्व व्यक्तित्व-हीनता नहीं, निरहंकारता है। दुर्भाग्यवश हमारे तथाकथित अन्तर्राष्ट्रीयतावादी लोग व्यक्तित्व-हीनता, आत्म-शून्यता को ही सार्वभौमता समझते हैं। और, तो स्वदेशी-आन्दोलन उस गांधी ने चलाया था जिसके लिए वास्तव में स्वदेश-परदेश का कोई भेद नहीं था। इसलिए उस आन्दोलन का उद्देश्य न स्वदेशाहंकार था और न स्वार्थ, बल्कि उस व्यष्टि को व्यक्तित्व देना, उसकी अस्मिता को लौटाना था जिसकी अस्मिता और व्यक्तित्व पद्दलित कर दिये गए थे। व्यक्तित्व-विहीन, अस्मिता-विहीन व्यक्ति जहां एक ओर अपने को अयुक्त रूप से बुद्धि-बलहीन समझता है वहीं दूसरे के बुद्धि-बल को अपार रूप से बढ़ा कर भी आँकता है। यही हम पहले भी कर रहे थे और आज भी कर रहे हैं। हम अंग्रेजी में लिखने-बोलने मात्र से किसी बात और व्यक्ति को किसी भारतीय भाषा में लिखी-बोली बात और उसके लेखक-वक्ता से उत्कृष्टतर मान लेते हैं, और यदि वह लिखी-कही भी किसी यूरोपीय द्वारा गई हो, तब तो बात ही क्या है! इसके लिए कोई प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है, जिसमें अपने भीतर झाँक कर देखने का साहस हो वह यह आसानी से देख सकता है। आज हम इस साहस में कितने क्षीण हो चुके हैं इसका कुछ अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि **इंडियन फिलासफीकल क्वार्टर्ली** के "स्वराज इन आइडियाज़" विशेषांक में

डा० सत्यपाल गौतम के अतिरिक्त किसी ने यह नहीं लिखा कि वैचारिक स्वराज के लिए भाषिक स्वराज अनिवार्य है। कृष्णचंद्र भट्टाचार्य ने यह कहा अवश्य, किन्तु बहुत झिझक के साथ, अन्यथा उन्होंने प्रत्ययात्मक-स्वराज (स्वराज इन कॉंसेप्ट्स) की ही बात की है, मानो प्रत्यय भाषा से असम्बद्ध हों। तब भी, उन्होंने वैचारिक स्वराज के संदर्भ में भाषा के सम्बन्ध में जो कहा है वह भी उनके बंगला या हिन्दी में नहीं लिखने की जवाबदेही के लिए पर्याप्त है, किन्तु उनका इस जवाबदेही से बचने का प्रयत्न स्पष्ट है, और उससे कहीं अधिक प्रगल्भ इस अंक के अन्य लेखकों का इसपर मौन है जिन्होंने भट्टाचार्य के लेख को आधार बना कर लिखा।

स्वतन्त्रता के बाद अंग्रेज़ी भाषा को यह कहकर रखा गया था कि यह अन्तर्राष्ट्रीय खिड़की है। किन्तु यह खिड़की रखने का परिणाम यह हुआ कि हम इस पर ही आकर खड़े हो गए और भीतर देखना बन्द ही कर दिया। और फिर बाहर के लिए भी खिड़की एक ही क्यों हो? चीनी, रूसी, जर्मन, फ्रेंच तथा अरबी ये कम से कम हैं जिन्हें हमें खिड़कियां बनाना चाहिए था। उस सबसे पहले आवश्यक था स्वयं अपने ही देश की प्रमुख भाषाओं को परस्पर सीखना। इसका यह अर्थ नहीं है कि सब लोग सब भाषाएँ सीखे। इसका अर्थ है कि भिन्न-भिन्न लोग भिन्न भिन्न भाषाएं सीखें। और यह सीखना लिखने-बोलने के लिए नहीं, बल्कि पढ़ने के लिए ही वांछनीय है। किन्तु हमने अंग्रेज़ी को ही खिड़की बनाकर जहां भीतर देखना बन्द किया वहां बाहर भी वही देखा जो इस खिड़की से दीख सकता था, और इस पर यह और कि यह भी माना कि "यही है, जो सब है।" किसी जाति द्वारा अपना दिमाग़ गहने रखने का इससे बड़ा सौदा शायद दूसरा नहीं हुआ होगा। यही कारण है कि हम "प्रत्यक्ष-सम्मत" या "विज्ञान-सम्मत" या "लोक-बुद्धि सम्मत" जैसे इंगलैंड या अमरीका में प्रचलित फैशनों को विचार के विश्व-इतिहास पर अमिट छाप समझते हैं और वहां के घटिया से घटिया लेखक को विचारणीय और अनुकरणीय मानते हैं।

उन्मीलन का उद्देश्य इस मनोवृत्ति को बदलना है। हम जानते हैं कि यह प्रयत्न समय की दिशा के विरुद्ध है और परिणामतः इसकी थोड़ी भी सफलता सन्दिग्ध है। किन्तु औचित्य, युक्तता या मूल्य की कसौटी समयानुकूलता नहीं होती : आज आत्म-संयम, प्रेम, मैत्री, सम्बन्धों में सच्चाई और सादगी आदि की बात भी समय की दिशा के विपरीत है और इनकी रक्षा के प्रयत्नों की असफलता प्रायः निश्चित है, किन्तु इसी से इनकी युक्तता सन्दिग्ध नहीं हो जाती और न इनके लिए प्रयत्न अकरणीय हो जाता है।

इन शब्दों के साथ हम दार्शनिक बन्धुओं का इस प्रयत्न में सम्मिलित होने के लिए आह्वान करते हैं।

यशदेव शल्य

2

तत्त्वमीमांसा का जन्म और निधन

गोविन्दचन्द्र पांडे

किसी भी वस्तु के स्वरूप का निर्धारण उसके विस्तृत एवं घनिष्ठ परिचय के बिना ठीक-ठीक नहीं किया जा सकता, क्योंकि अधूरे परिचय पर आधारित निर्णय अव्यापक होने के कारण वस्तु से व्यभिचरित होगा। अतः वस्तु के लक्ष्य को अव्याप्ति-दोष से बचाने के लिए लक्ष्य के सभी उदाहरणों का परिचयात्मक ज्ञान आवश्यक है।

इसके विरोध में यह कहा जा सकता है कि लक्ष्यों के भिन्न-भिन्न असंख्य रूप हो सकते हैं। उदाहरण के लिए काल-भेद से या आगन्तुक संबंधों के द्वारा किसी भी लक्ष्य के असंख्य औपाधिक विशेषणों की कल्पना की जा सकती है। डीनासॉर नाम का पशु अब नहीं मिलता किन्तु उसकी विद्यमानता के काल का निर्देश कालान्तर की अपेक्षा से असंख्य रूप से किया जा सकता है, क्योंकि काल-क्रम में डीनासॉर का काल, असंख्य अन्य काल-विभागों से असंख्य अलग-अलग आपेक्षिक सम्बन्ध रखता है। आज से वह पूर्ववर्ती था, आने वाले कल से वह अधिक पूर्ववर्ती होगा, इत्यादि। डीनासॉर के अपनी विद्यमानता के काल में और उसके प्रत्येक विभाग में असंख्य क्षण होने के कारण डीनासॉर के असंख्य क्षण-भेद-विशिष्ट उदाहरण मानने होंगे। विश्व के अन्य अनियत-संख्यक पदार्थों के असंख्य कालापेक्षी रूपों से और समस्त अन्य दैशिक पदार्थों के असंख्य विभागों और प्रविभागों से सम्बन्ध-भेद के कारण भी डीनासॉर के असंख्य सम्बन्ध-भेद-विशिष्ट रूप कल्पनीय हैं। इस अनन्त भिन्नता के कारण किसी भी लक्ष्य से समग्र परिचय सम्भव नहीं है और उसके अभाव में लक्षण की अव्याप्ति अपरिहार्य है, ऐसा प्रतीत होता है।

उन्मीलन : वर्ष 1, अंक 1.

इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि सब सम्बन्ध सम्बन्धियों के स्वरूप में विशेषता नहीं जोड़ते ।[1] उदाहरण के लिए स्थिर पदार्थ क्षण-भेद से विभिन्न नहीं होते और न दैशिक अवस्थिति मात्र के बदलने से पदार्थ बदल जाते हैं । अन्यथा वस्तुओं का न अविकृत रूप में संरक्षण सम्भव होगा, न देशान्तर-नयन । पुनश्च, प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तुओं से भिन्न होती है; इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रत्येक वस्तु के परिचय के लिए शेष सब वस्तुओं का परिचय आवश्यक है । प्रत्येक वस्तु का एक अपना भावात्मक या विध्यात्मक रूप होता है, उससे परिचय वस्तु के अशेष वस्त्वन्तर से भेद का परिचय होता है । उदाहरण के लिए घट-ज्ञान से घट के अन्य पदार्थ से भेद करने की समर्थता उपजती है । पटादि के ज्ञान से घट की उनसे भिन्नता समर्थित होती है किन्तु घट के स्वरूप के ज्ञान में कोई वृद्धि नहीं होती । प्रत्येक वस्तु का एक स्थिर और पृथक् स्वभाव है और उस स्वभाव से युक्त वस्तु के उदाहरणों में उतनी ही संख्या अभीष्ट है जितने से उस स्वभाव के विभिन्न पक्षों से परिचय प्राप्त हो सके । अतिरिक्त संख्या परिचय की समग्रता पर कोई प्रभाव नहीं डालती । इसीलिए ऊपर कहा गया था कि परिचय (सभी विसदृश उदाहरणों का) आवश्यक है, न कि संख्या मात्र से भिन्न सभी उदाहरणों का । किसी वस्तु के सभी पक्षों से परिचय के लिए यह आवश्यक है कि उसका प्रत्यक्ष उन सभी परिस्थितियों में किया जाय जिनमें उसके गुणों और कार्यों में भेद प्रकट हो । इसके लिए स्पष्ट ही प्रयोगात्मक पद्धति आवश्यक है ।

यह आपत्ति हो सकती है कि किसी वस्तु के स्वभाव के कितने पक्ष हैं और उनसे परिचय के लिए कौन से प्रयोग आवश्यक हैं, इसका पता कैसे चलेगा ? लोहे और चुम्बक से परिचय के बावजूद प्रत्येक लोहे के चुम्बक बन सकने की योग्यता से परिचय सैंकड़ों वर्ष तक नहीं हो पाया । किसी वस्तु के परिचय में क्या कमी है और उसे दूर करने के लिए क्या प्रयोग आवश्यक हैं, इस विषय पर प्रकाश उस वस्तु के अद्यावधि परिचय से प्राप्त उसके स्वरूप की जानकारी से ही मिल सकता है । किन्तु यह जानकारी पूरी है अथवा अधूरी इसका ज्ञान किस प्रकार होगा ? प्राचीन विज्ञान और तत्त्वमीमांसा अपने अभ्यस्त विश्व-परिचय के आधार पर तत्त्व-विभाग और तत्त्व-लक्षण से प्रायः आश्वस्त रहते थे । जल, वायु, अग्नि आदि के पृथक् और स्थिर स्वभावों की कल्पना इसका ज्वलन्त दृष्टान्त है । वर्तमान विज्ञान अद्यावधि ज्ञान को सदा अधूरा मानकर निरन्तर नये प्रयोगों से उसे सुधारने और पूरा करने में निरत रहता है किन्तु उसकी यह निरन्तर प्रगतिशीलता ही उसकी मौलिक ऐतिहासिकता की परिचायक है । जब तक यह आस्था थी कि सभी पदार्थ एक स्वाभाविक रूप से लोकानुभव में अपना स्वरूप व्यक्त करते हैं, उनका अनुभवमूलक ज्ञान एक स्थिर और सार्वभौमिक आधार पर प्रतिष्ठित माना जा सकता था । वायु का समान रूप से सदा और सर्वत्र प्रत्यक्ष होता आया है, इस आधार पर यदि उसे एक स्थिर तत्त्व मान सकते तो इस ज्ञान को इतिहास-निरपेक्ष, अनुभव-सिद्ध ज्ञान मान सकते थे । तब वायु ऐतिहासिक ज्ञान का और तटस्थ तार्किकों के द्वारा मीमांसेय विषय बन जाती । किन्तु एक दिन परिस्थिति-विशेष में सम्पादित

1. सम्बन्धों की 'आन्तरिकता' पर द्र. मूर, फिलॉसफिकल स्टडीज़, पृ. 276 और आगे । श्री हर्ष ने सम्बन्ध मात्र का खण्डन किया है-खण्डनखंड-खाद्य. 4.62

प्रयोग से वायु की एक-तत्त्वात्मकता खण्डित हो गई। यद्यपि वह प्रयोग जहां-कहीं भी दुहराया जा सकता है, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसने चिरन्तन लोक-प्रत्यक्ष पर आधारित एक व्यापक बौद्धिक धारणा का खण्डन कर दिया। इस प्रकार का प्रयोग किया जा सकता है अथवा किया जाएगा, इसकी कोई कल्पना पहले सम्भव नहीं थी। अतएव वायु-विषयक यह नयी प्रतीति ऐतिहासिक क्रम में अतर्क्य रूप से उदभूत कारणों का ही परिणाम मानी जा सकती है। कौन से प्रयोग भविष्य में होंगे और उनसे कौन-सी धारणाएं उपजेंगी, यह भी सर्वथा अतर्क्य है।[2] इस प्रकार वैज्ञानिक परम्परा में वस्तुओं का विभाजन और लक्षण, उनके स्वरूप का निरूपण निरन्तर एक अतर्कित रीति से परिवर्तनशील होने के कारण ऐतिहासिक ही कहा जा सकता है। परिणामतः वैज्ञानिक अवधारणाओं पर विचार वस्तु-सापेक्ष ढंग से नहीं हो सकता अपितु इतिहाससिद्ध, अनुभव-विशेष के सन्दर्भ में ही करना होता है। वस्तु-स्वरूप के निर्धारण के लिए उसका परिचय पूरा होना चाहिए, पर यह परिचय सदैव एक ऐतिहासिक अपूर्णता से परिष्वक्त रहता है।

यह कहा जा सकता है कि प्रयोगात्मक परिचय आकस्मिक और आगन्तुक नहीं होता बल्कि वैज्ञानिक परम्परा के अपनी अपूर्णता के बोध से प्रेरित होता है। ज्ञान की शृंखला असंबद्ध आगन्तुक प्रत्यक्षों की शृंखला नहीं है बल्कि एक सुनियोजित ढंग से अर्जित, नियमबद्ध तत्त्वों की व्यवस्था है। उसमें विद्यमान ज्ञानसूत्रों की परीक्षा ही विशिष्ट प्रयोगों को जन्म देती है जिनमें आनुमानिक कल्पनाओं का अविसंवादन उनका सत्यापन माना जाता है। इस प्रकार वस्तुओं के वैज्ञानिक स्वरूप-निर्धारण में ऐतिहासिकता महत्त्वहीन है, महत्त्वपूर्ण है उसकी तार्किकता और अथक सत्यान्वेषण।[3]

इन युक्तियों का यदि यह अर्थ हो कि वर्तमान विज्ञान में समस्त अनागत विज्ञान एक तार्किक अनिवार्यता से समाहित है और तार्किक परीक्षा के द्वारा क्रमशः उन्मीलित होता है, तो यह एक अनास्थेय कल्पनामात्र प्रतीत होती है। वस्तु-प्रत्यक्ष का विश्लेषण और उसके दैशिक-कालिक सम्बन्धों का निर्धारण तार्किक प्रक्रियाएं हैं और उनके द्वारा प्रत्यक्ष-ज्ञान विकल्प-योजनाओं में व्यवस्थित होता है। किन्तु यह ज्ञान योजनामात्र नहीं होता बल्कि इसमें प्रत्यक्षमूलक स्थिरांकों का सर्वाधिक महत्त्व होता है। अतएव वैज्ञानिक प्रगति की प्रेरणा तार्किक विसंगति से ही नहीं होती बल्कि, अपूर्व प्रत्यक्ष की और नई कल्पना की चुनौती से भी होती है। कारण-संयोग से जन्मे अपूर्व प्रत्यक्ष में कभी भी तार्किक अनिवार्यता नहीं हो सकती। प्रयत्न-विशेष और परिस्थिति-विशेष में उत्पन्न प्रत्यक्ष अपने प्रथम आविर्भाव-काल में ऐतिहासिक घटना ही होता है यद्यपि पीछे उसके सजातीय प्रत्यक्ष नियमतः और यथेष्ट रूप से उपलब्ध होने के कारण इस इतिहासिकता से विलग हो जाते हैं।

इस प्रकार वस्तु-स्वरूप का निर्धारण वस्तु के परिचय की मात्रा एवं उसके विश्लेषण के तार्किक गुण पर निर्भर करने के कारण एक गतिशील अधूरेपन के घेरे में रहता है। आधुनिक विज्ञान में इस तथ्य का निःसंकोच स्वीकार मिलता है किन्तु दार्शनिक परम्परा में

2. इस युक्ति को पॉपर ने हिस्टॉरिसिज्म के खण्डन के लिए उद्भावित किया था।

3. वैज्ञानिक पद्धति को हाइपोथेटिको-डिडक्टिव कहने का यही तात्पर्य है।

प्रायः या तो विश्वास की ऐकान्तिकता या संशय की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। प्राचीन और मध्यकालीन दार्शनिक सम्प्रदायों में नाना तत्त्व-व्यवस्थाओं का निरूपण पारमार्थिक और शाश्वत सत्य के रूप में मिलता है। आधुनिक दार्शनिकों ने न केवल इन व्यवस्थाओं पर संशय प्रकट किया है बल्कि क्रमशः दार्शनिक तत्त्वों का वैज्ञानिक तत्त्वों से पार्थक्य प्रतिपादित किया है। इस प्रवृत्ति के पीछे यह धारणा बद्धमूल है कि वस्तुसत् पदार्थों का ज्ञान अनुभव और विशुद्ध तर्क के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है जबकि दर्शन की मनोवैज्ञानिक प्रत्यवेक्षा अथवा विशुद्ध बौद्धिक विश्लेषण की पद्धतियों से मनोमय अथवा प्रज्ञप्तिसत् अर्थों का ही ज्ञान सम्भव है। ह्यूम ने वस्तु-व्यवस्था और तार्किक व्यवस्था को असम्बद्ध बनाया,[4] कांट ने बुद्धिमीमांसा के आधार पर तत्त्वमीमांसा को असम्भव घोषित किया।[5] कौंत ने तत्त्वमीमांसा को देवमीमांसा का रूपान्तर और विज्ञान के पूर्ववर्ती युग का चिन्तन विज्ञापित किया।[6]

तो क्या यह मानना चाहिए कि तत्त्वमीमांसा के पुराने प्रयत्न एक मौलिक भ्रान्ति के शिकार थे क्योंकि वे वास्तविकता की व्याख्या विज्ञानेतर रीति से करना चाहते थे? यह निर्विवाद है कि पुरानी तत्त्वमीमांसा के सभी अभ्यस्त तत्त्व : बुद्धि, मन, प्राण, महाभूतः विज्ञान की तेज़ाबी दृष्टि में घुल चुके हैं, ऐसी मान्यता इस समय जागरूक है। क्या उसे कौंत के ऊपर उल्लिखित वाक्य का ऐतिहासिक सत्यापन माना जाना चाहिए?

प्राचीन तत्त्वमीमांसा अपने को एक शाश्वत ज्ञान की उपलब्धि मानती थी। यह ज्ञान श्रोतव्य, मन्तव्य, निदिध्यासितव्य था। शास्त्रीय परम्परा के रूप में व्याख्याओं के द्वारा इसमें परिष्कार सम्भव था किन्तु मौलिक परिवर्तन का अवकाश नहीं था। इसका प्रयोजन समाज की बदलती व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना नहीं माना जाता था बल्कि एक ऐसे चिरन्तन और आदर्श सत्य का निरूपण करना था जिसकी पृष्ठभूमि में समाज का यथावत् नियमन हो सके और जिसके साक्षात्कार से आत्मा मुक्त और चरितार्थ हो सके। गुफा के अन्दर ही बने रहकर छायाओं के अध्ययन के द्वारा बन्दी जीवन में सौकर्य-प्रदान करना विज्ञान का लक्ष्य हो सकता है, तत्त्वमीमांसा का नहीं।[7] तत्त्वमीमांसा 'छायाग्राहिणी' के शिकंजे में न फँसकर बुद्धि की भवसागर के पार उड़ान थी। इन्द्रियगोचर, अधिभौतिक विश्व में निगड़ित चेतना के लिए वह आत्माराम सत्य का बुद्धिवाहित संदेश थी। ऐन्द्रिय संवेदन और आत्मानुभूति के बीच बुद्धि ही उभयमुखी दर्पण के समान सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ है। एक ओर उसमें नित्य-ज्ञान का आभास होता है, दूसरी ओर ऐन्द्रिय प्रतिभासों एवं उनके संश्लेषित-विश्लेषित विकल्पों का।[8] बुद्धि की प्रवृत्ति दोनों दिशाओं में हो सकती है। पराङ्मुखी होने पर वह इन्द्रिय-विकारों के अथवा उनके नियत कारणों के अनुसंधान में लगती है, प्रत्यङ्मुखी होने पर वह नित्य ज्ञान और नित्य सत्य का अनुसन्धान करती है।[9]

4. द्र. ह्यूम, ए ट्रीटिज ऑव ह्यूमन नेचर, 1.3.3
5. तु. कांट, क्रिटीक ऑव प्योर रीज़न (एवरीमेन्स), पृ. 18
6. कौंत, पॉज़िटिव फिलासफी, जि. 1 .अध्याय 1
7. तु. प्लातोन्, रिपब्लिक (जॉवेट), 7.514
8. प्रतिभास और विकल्प पर द्र. धर्मकीर्ति, न्यायबिन्दु
9. तु. कठोपनिषद् 4.1, तु. श्री कृष्ण प्रेम, योग ऑव दि कठोपनिषद्, पृ. 182 और आगे।

इन दोनों दिशाओं की उपलब्धियों को समन्वित करने का कार्य भी उसी का उत्तरदायित्व है पर इस कार्य में सन्तोषजनक सफलता उसे कभी भी प्राप्त नहीं हुई है, क्योंकि नित्य और अनित्य परस्पर बाधक रूप में प्रतीत होते हैं। इस स्थिति में आर्ष-प्रज्ञा आध्यात्मिक तत्त्वों का निरूपण सांकेतिक भाषा में करती थी जो कि प्राचीन देवविद्याओं में उपलब्ध होता है।[10] इनमें तत्त्व-निर्देश सृष्टि-प्रक्रिया के निदर्शन के रूप में मिलता है।[11] इस निरूपण में तत्त्व चैतन्य-संपन्न और अतः देवता रूप में प्रतिपादित होते थे। एक मूल सत् अथवा चेतन शक्ति से नाना रूपों की सृष्टि मानी जाती थी।[12] तर्क-प्रज्ञा के विकास ने लक्षण और प्रमाण के द्वारा तत्त्व-व्यवस्थापन के प्रयत्नों को प्रबल किया। अध्यात्मविद्या के संरक्षण के लिए न्यायविद्या ने जन्म लिया[13] और इसके साथ ही अध्यात्मविद्या ने अपने प्राचीन सांकेतिक रूप को त्याग कर तर्क-कर्कश लक्षणों का आवरण धारण किया। यही 'मध्यकालीन' तत्त्व-मीमांसा का विकास था।[14]

प्राचीन वेदान्त और सांख्य में मूल अथवा उपादान के रूप में ही तत्त्व अवधारित है और यह भी विश्वास है कि विश्व के नाना पदार्थ एक ही मूल उपादान के परिणाम हैं। ऐन्द्रिय विश्व का आधारभूत तत्त्व अतीन्द्रिय है, इस विश्वास को आध्यात्मिक अनुभूति ही प्रमाणित कर सकती है।[15] पश्चिम में भी तत्त्वमीमांसा का जो सर्वोच्च शिखर सुकरात और प्लातोन में मिलता है, उसमें भी इसी प्रकार की धारणा देखी जा सकती है। बाह्य और आध्यात्मिक, अनित्य और नित्य सत्ताओं को प्रमेयतया समानकोटिक मानकर अरस्तू और अक्षपाद की मीमांसाएं प्रवृत्त हुईं। सब सत् को प्रमेय, प्रमेय को प्रमाणैकशरण, प्रमाण को व्यवहार-सिद्धि का हेतु एवं प्रमा को लौकिक भाषा से अविनाभूत मानने से इन मीमांसाओं की तत्त्व-व्यवस्था में अध्यात्मविद्या एवं तार्किक विज्ञान का अद्‌भुत् सम्मिश्रण मिलता है। यही "मध्यकालीन" तत्त्वमीमांसा का परिनिष्ठित रूप है। शब्द-प्रमाण छोड़कर प्रत्यक्ष-प्रधान अधिकतम दो ही प्रमाणों को स्वीकार करने वाले विचारकों की आलोचना से इस 'मध्यकालीन' विचार-व्यवस्था का अभिभव प्रारम्भ हुआ जिसकी पाश्चात्य परिणति का ऊपर उल्लेख किया गया है।

प्रारम्भ में कहा गया था कि किसी वस्तु के स्वरूप-निर्धारण के लिए उसका पर्याप्त परिचय आवश्यक है, किन्तु परिचय की पर्याप्तता की पूर्ण अथवा निस्सन्देह उपलब्धि सम्भव नहीं है। यदि वस्तु-परिचय को ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष तक सीमित माना जाय तो फिर वस्तु-निर्धारण

10. तु. श्रीकृष्ण प्रेम, वही पृ. 11-12
11. तु. श्री माधव आशीष, मैन दि सन् ऑव मैन
12. यही ब्रह्मसूत्रों में प्रतिपादित है जबकि 'वायु' आदि के रूप में मूल तत्त्व के निर्धारण को अरस्तु, भौतिक तत्त्व के रूप में निर्धारित मानते थे (द्र. मेटाफिज़िक्स, एवरीमेन्स, पृ. 57), वेदान्त सूत्रों में उनको ब्रह्म की उपासना के सन्दर्भ में ही लिया गया है।
13. तु. वात्स्यायनभाष्य, न्यायसूत्र 1.1. पर
14. 'मध्यकालीन' से तात्पर्य यहां सूत्रों के युग से है जो श्रुति एवं भाष्यों के मध्य में अवस्थित है।
15. "मैंने ज्ञान को सीमित कर विश्वास के लिए स्थान बनाया है," कांट के इस कथन में इसी प्रकार का तात्पर्य है। द्र. शांकरभाष्य, ब्रह्मसूत्र, 2.1.11.

अधिभौतिक जगत् के एक परोक्ष और सम्भावनात्मक विज्ञान के अतिरिक्त सम्भव नहीं है। किन्तु प्रत्यक्ष को करणोपकरणपूर्वक मानना प्रत्यक्ष के स्वरूप के ही विरुद्ध है। वस्तुतः प्रत्यक्ष आत्मानुभूति को ही मानना चाहिए। तत्त्व को भी कार्यानुमेय उपादान मानने पर वह तत्त्व न रहकर अन्य-सम्बद्धत्व ही रह जाता है। वस्तु-वैलक्षण्य के रूप में अवधारित तत्त्व विकल्प-पर्यवसायी रह जाता है, क्योंकि लक्ष्य के बिना लक्षण का और लक्षण के बिना लक्ष्य का ज्ञान नहीं हो सकने से लक्षण संकेत-मात्र और लक्ष्य बुद्धि-विकल्प मात्र सिद्ध होते हैं।[16] अतएव तत्त्व को अपरोक्षानुभूति में प्रकाशित सत् के अतिरिक्त और कुछ परमार्थतः नहीं माना जा सकता। इस सत् के सम्प्रेषण के लिए शुद्ध बुद्धि तत् को नाना सांकेतिक तत्त्वों का रूप देती है। यही वास्तविक तत्त्वमीमांसा का जन्म है, और व्यावहारिक बुद्धि का बहिर्मुखी आग्रह उसका निधन है। आत्मविद्या से आविर्भूत बुद्ध्यात्मक तत्त्वमीमांसा पदार्थ-विद्या में तिरोहित हो जाती है।

11, बलरामपुर हाउस, इलाहाबाद-२.

16. अपोहवाद की यही मान्यता है।

3

मूल्य : विषयि-सत्ता*

यशदेव शल्य

पिछले अध्याय में हमने विषय की असीमता और उसके हमारे ग्रहण की ससीमता के बीच अन्तराल के स्वरूप पर विचार किया जो अन्तराल सन्देह और भ्रम की स्थितियों का हेतु बनता है। किन्तु सन्देह और भ्रम जहां एक ओर ग्रहण की सीमितता को सूचित करते हैं वहीं दूसरी ओर इस सीमा की अतिक्राम्यता को भी सूचित करते हैं। सीमा की यह अतिक्राम्यता ससीम और असीम के युगपद् बोध में प्रतिष्ठित होती है। इस प्रकार यह बोध उस सीमा का बोध है जो अतिक्रमणीय है, जिसकी विद्यमानता उसकी अविद्यमानता की सापेक्ष है। दूसरे शब्दों में, सीमा एक अभावात्मक भाव है, यह असत् अस्तित्व है। सन्देह और भ्रम की तार्किक संरचनाएँ भी इसकी पुष्टि करती हैं : "यह रज्जु है या सर्प ?" प्रश्न का अर्थ है कि ग्रहण की विद्यमान स्थिति अविद्यमान ग्राह्य स्थिति से व्यवहित है और ग्राह्य इस व्यवधान से रहित है, परिणामतः ग्रहण का बोध भी इससे रहित है, क्योंकि बोध में रज्जु और सर्प दोनों अव्यवहिततया विदित हैं। इस प्रकार ग्रहणगत व्यवधान अव्यवहित से आप्रविष्ट है, जिसके बिना यह : व्यवधान : होता ही नहीं : असंदिग्ध के और सन्देह की असन्दिग्ध में निरास्यता के बोध के बिना सन्देह नहीं हो सकता। ज्ञानगत यह व्यवधान उस सामान्य व्यवधान का एक पक्षमात्र होता है जो मानव-चेतना में उसका घटक है। चेतनागत यह व्यवधान मूल्यान्वेषण का बीज है। मूल्य अभाव का बोध और भाव की पर्येषणा है, अथवा

* यह लेख मेरी पुस्तक "सत्ताविषयक अन्वीक्षा" का आठवां अध्याय है। इसके पहले सात अध्याय और पन्द्रहवां अध्याय परामर्श पत्रिका में प्रकाशित हो चुके हैं। इसका नवम् अध्याय "मूल्य : विषय-सत्ता है और इस प्रकार इस अध्याय का पूरक है। यह अध्याय उन्मीलन के अगले अंक में प्रकाशित होगा। यह पुस्तक भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली की फैलोशिप के कार्य के रूप में लिखी गई है। इसलिए इन अध्यायों के प्रकाशन की अनुमति देने के लिए लेखक परिषद् के अधिकारियों के प्रति अनुगृहीत है,

इसे केवल भाव की पर्येषणा भी कह सकते हैं, क्योंकि भाव-पर्येषणा में अभाव का बोध पूर्वकल्पित है। किन्तु मात्र अभाव-बोध को मूल्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अभाव-बोध में भाव अभाव की सापेक्षता में और परोक्षतया ही गम्य होता है, निरपेक्ष और प्रत्यक्ष रूप में नहीं, जो कि मूल्य-बोध के लिए आवश्यक है। मूल्य उस पूर्ण की एषणा है जिसकी अविद्यमानता या अनुपलब्धि अभावबोध की जनक और उसको सार्थकता देने वाली होती है, अभाव का बोध नहीं, जिसमें भाव की अपेक्षा तो अवश्य रहती है किन्तु अनिवार्य रूप से उसका बोध नहीं रहता। उदाहरणत: भूख में उसके निवारण की आकुलता तो अवश्य रहती है किन्तु उसकी समाप्ति के सुख का और इस समाप्ति के साधनभूत भोजन का बोध भी रहे, यह अनिवार्य नहीं है : जैसाकि शिशु में और नितान्त अविकसित जीवों में हम देखते हैं। भाव की इस पर्येषणा के अनेक आयाम हैं, जिनमें एक ज्ञान भी है। ज्ञान के आयाम में यह पर्येषणा सत्य को, अथवा कहें वस्तु के पूर्ण अवगमन को, लक्षित करती है। सन्देह का स्फुट बोध, भूख के बोध के समान, अपने निवारण के लिए उद्विग्नता उत्पन्न करता है और सत्य इस उद्विग्नता के लिए साध्य बनता है।

यह अभाव और उद्विग्नता चेतना के स्वरूप के अत्यन्त निगूढ़ रहस्य हैं। उदाहरणत: भूख अपने रासायनिक अर्थ में, शरीर की एक रासायनिक स्थिति है जिसे शरीरवैज्ञानिक रासायनिक असन्तुलन की एक स्थिति कहता है। किन्तु इसे "रासायनिक असन्तुलन की एक स्थिति" कहने में सिद्ध-साधन दोष है, क्योंकि यह स्थिति वास्तव में भूख-जन्य आकुलता के सहगामी अनुभव के आधार पर ही 'असन्तुलन' कही जाती है जो इस सहगामिता के बिना केवल एक रासायनिक स्थिति होती है, जिसमें असन्तुलन की कोई बात नहीं होती। यह असन्तुलन की स्थिति प्रथमत: शरीर की आवयविकतामूलक होती है, जो पुन: एक रासायनिक स्थिति नहीं है बल्कि जैविक अवस्था है, किन्तु भूख यह आवयविक असन्तुलन मात्र भी नहीं है, यह चेतना में प्रकट एक विशिष्ट अभाव की स्थिति है, जो अभाव चेतना का एक अद्वितीय स्वभाव है और जो अनुभव में विदित होकर चेतना को इसके निवारण या पूर्ति के लिए उद्विग्न करता है। यही अनुभूति, एक दूसरे स्तर पर, सन्देह और जिज्ञासा में होती है। इनका स्तर-भेद परोक्षत: सहगामी शारीरिक घटनाओं से भी सूचित होता है, और प्रत्यक्षत: स्वयं अनुभूतिगत प्रकार-भेद से। किन्तु सन्देह और जिज्ञासा की सहगामी शारीरिक घटनाएँ भूख के समान यह भ्रम उत्पन्न नहीं करतीं कि ये रासायनिक स्थिति-रूप हैं अथवा इस स्थिति से कारित हैं : सूर्य को देखकर यह जिज्ञासा होना कि वह पृथ्वी पर क्यों नहीं आ गिरता, अथवा हवा में कागज़ के उड़ जाने किन्तु पत्थर के नहीं उड़ने से यह कुतूहल होना कि कागज़ क्यों उड़ गया और पत्थर क्यों नहीं, प्रत्यक्षत: बौद्धिक चित्त में उत्पन्न उद्विग्नताएँ हैं जो शारीरिक (मस्तिष्कीय) उद्विग्नता में भी प्रतिबिम्बित हो सकती हैं, जो कि अंतत: परमाणुओं की भौतिक व्यवस्था मात्र है, किन्तु चित्तगत उद्विग्नता, जिज्ञासा और सन्देह का इस व्यवस्था या मस्तिष्कीय तनाव से निगमन या तादात्म्य-स्थापन दृष्टि-विपर्यास मात्र ही कहा जा सकता है।

जैसाकि हमने पीछे कहा, यह अभावानुभूति मूल्य-पर्येषणा की बीजभूत है, किन्तु यह स्वयं मूल्य नहीं है. मूल्य इस अभाव की समाप्ति है। किन्तु भाव की सिद्धि घटित हो

जाने पर वह मूल्य नहीं रहती जब तक कि उस घटित स्थिति अथवा भाव की पूर्णता के साथ पूर्वगत अभाव और सिद्धि के प्रयत्न की स्मृति नहीं जुड़ी हो, अथवा जब तक भाव की सिद्धि पुनः खो जाने की सम्भावना से आक्रान्त नहीं हो : वर्ण, पत्तियों के आकार और संस्थान, तथा पारिवेशिक संस्थान में आदर्शतः रचित फूल का सौन्दर्य अपरिष्कार्य होने पर भी स्खलन और अस्वास्थ्य की असंख्य संभावनाओं को निरस्त कर और भावी ह्रास की सम्भावनाओं को रोक कर अवस्थित होता है, इसीसे वह प्रकृत्या सिद्ध होने पर भी साधना के फलवत् होता है। किन्तु तब यह एक महत् रहस्य है कि साध्य भाव अस्तित्व-रहित होने से भाव किस प्रकार हो सकता है ? गीता में इस सम्बन्ध में एक श्लोक है :

नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः,
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः । 2.16

यह इसी प्रश्न का सत्कार्यवादी उत्तर है! किन्तु सत्कार्यवादी साँख्य यह नहीं बताता कि तब नाम-रूपात्मक जगत् : अविवेकः कैसे मात्र त्रैगुण्य है । यह प्रतिपादन चेतना के उस निगूढ़ रहस्य को भूल जाने के कारण है जो अभाव के रूप में लक्षित होता है । अभाव चेतना में मौलिक है, इस प्रकार 'असदेवेदमग्र आसीत्' चेतना के स्वभाव को सम्यक् रूप से निरूपित करता है, और तब भाव : सत्: केवल इस अपेक्षा से, इस चिद्गत अभाव, या असत्-मूलक उद्विग्नता, या पर्येषणा के भाव्य पर्यवसायी के रूप में ही हो सकता है, वस्तुतः या अस्तित्वतः नहीं । इस अभाव और भाव को हम केवल भूख और तृप्ति, तथा सन्देह और समाधान के रूप में ही नहीं देखते बल्कि अनेक रूपों में देखते हैं; बल्कि कहा जा सकता है कि चेतना जितने भी प्रकार से उद्गत होती है उतने ही अभाव और भाव्य के प्रकार होते हैं । उदाहरण के लिए कलाएं, विज्ञान, समाज, भाषा आदि प्रकारक विभिन्न रचनाएं इस अभाव और उसकी पूर्ति के प्रयत्न की ही द्योतक हैं; और पुनः, इनमें न्यूनता का दर्शन : जैसे किसी कविता, चित्र, दार्शनिक प्रतिपादन तथा वैज्ञानिक सिद्धान्त में न्यूनता का दर्शनः इस अभाव का, और इसे मापने वाले भाव का ही दर्शन है । यह न्यूनता हम अनिवार्य रूप से मानवीय कृतियों में ही नहीं देखते, यह हम जैव, भौतिक और दैव सृष्टि में भी देखते हैं । उदाहरणतः प्राणियों और वनस्पतियों के दैहिक स्वास्थ्य या आवयविक गठन में, सूर्योदय के सौन्दर्य में, अथवा पर्वत-शृंखला के सांस्थानिक सौष्ठव में, तथा घटनाओं की अयुक्तता में : जैसे प्राणियों के, विशेषतः व्यक्तियों के, अहैतुक दुःख में, प्राकृतिक सम्पदा के असमान वितरण, और अतिवृष्टि-अनावृष्टि आदि में : भी देखते हैं । ऐसा नहीं है कि स्वास्थ्य-अस्वास्थ्य, संस्थान और घटनाएं वस्तुतः नहीं हैं, ये स्पष्ट रूप से वस्तुतः हैं, किन्तु इनमें न्यूनता-अन्यूनता मूल्य-दृष्टि-सापेक्ष होती है, वस्तुगत नहीं । किन्तु यहाँ यह अविलम्ब कहना आवश्यक है कि मूल्य-दृष्टि-सापेक्ष का अर्थ "मनोनिष्ठ-काल्पनिक" नहीं है, क्योंकि यह दृष्टि चेतना के स्वभाव में गर्भित और तात्त्विक होती है ।

यहां यह द्रष्टव्य है कि ऊपर चर्चित अभाव के उदाहरणों में बहुत स्तर-भेद और स्वरूप-भेद है । उदाहरणतः भूख, जिज्ञासा और सूर्योदय के सौन्दर्य-दर्शन में मौलिक भेद है : प्रथम दैहिक है और किसी खाद्य वस्तु का देह में ग्रहण इस अभाव की पूर्ति में साधन बनता है;

दूसरा प्रेक्षणात्मक है, जिसमें आत्म-व्यवहित चित्त व्यवधान के निवारण द्वारा आत्म-तादात्म्य को सिद्ध करना चाहता है; तीसरा पश्यनात्मक (कांटेंप्लेटिव) है, जिसमें बाह्य दृश्य भावना के आलंबन के रूप में आदर्श प्रतिमान से तुलनीय बनता है। अब जबकि इन तीनों की तार्किक संरचना (स्ट्रक्चर) एक ही है : अभावानुभूति और भाव-पर्येषण, प्रथम में अभाव और भाव विस्तार और गांभीर्य से नितान्त शून्य हैं; इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि ये सत् के स्तर का स्पर्श नहीं करते, केवल अस्तित्व के स्तर पर ही उपचरित होते हैं, इसलिए इनमें सत् की पर्याप्तता-अपर्याप्तता का प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता, केवल एक-आयामात्मक अस्तित्व ही अपने को बनाये रखने के प्रयत्न में व्यस्त रहता है।

किंतु दूसरी दो पर्येषणाएं भी अपने सब उपचारों में मूल्यात्मक नहीं होतीं : रज्जु-सर्प के बीच अनिर्णय की स्थिति निर्णय के लिए उद्विग्न करती है, परिणामतः उसका निवारण हमें इष्ट होता है, किन्तु इसका निवारण अपने-आपसे ज्ञान को विस्तार और गांभीर्य नहीं देता, क्योंकि यह पुनः विशिष्ट : अस्तित्व : के स्तर पर ही उपचरित होता है, तत्त्व के स्तर पर नहीं। इस कारण यह अनुसंधान व्यवहारोपयोगी तो है किन्तु मूल्य रूप में पर्येष्य नहीं। इन दो में अन्तर यह है कि जबकि व्यवहारोपयोगी अनुसन्धान अस्तित्वपरक अभावों की पूर्ति को लक्षित करता है अन्वेष्य मूल्य सत्त्वगत अभाव के निवारण को लक्षित करता है। ऊपर सन्देह को हमने चित्तगत आत्म-व्यवधान कहा, इस परिभाषा के अनुसार सभी सन्देह सन्मूलक हो जाते हैं और परिणामतः उनका निवारण मूल्य हो जाता है। यह सही है, जहां तक इसमें इस अभाव की पूर्ति होती है। किन्तु प्रेक्षण का उत्कर्ष प्रत्यङ्मुखता के उत्कर्ष का अनुसारी होने से, और दूसरी ओर विशिष्ट विषयमूलक सन्देह के अतिशय बहिर्मुख होने से, इसमें : जैसे रज्जु-सर्प सन्देह में : अभाव और भाव चित्त को परिव्याप्त नहीं करते। यही सन्देह जब प्रज्ञा-पारमिता (हाइएस्ट विज़्डम) को लक्षित करता है, जिसमें विशिष्ट प्रेक्ष्य ही नहीं बल्कि सामान्य प्रेक्ष्य भी, अर्थात् वस्तुएं ही नहीं उनके विज्ञान भी, सीमित होने से उपेक्षित हो जाते हैं और प्रेक्षण का मूल ही प्रेक्षण के रूप में अन्वेष्य होता है, तब सत्य परम मूल्य के रूप में साध्य बनता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मूल्य के अवर स्तर नहीं होते : भौतिक वैज्ञानिक के लिए भौतिक तत्त्व का स्वरूप, मनोवैज्ञानिक के लिए मनस्तत्त्व का स्वरूप, तर्क-वैज्ञानिक के लिए चिन्तन के आकारात्मक सम्बन्ध मूल्य के रूप में पर्येष्य होते हैं, ये वैज्ञानिक प्रेक्ष्यता के इन विभिन्न क्षेत्रों में निगूढ़ सत्य का अन्वेषण करते हैं। अन्वेष्य सत्यों में स्तरभेद का मानदण्ड व्यापकता है जो अन्वेषक-दृष्टि : प्रेक्षकत्व : के प्रत्यङ्मुख आरोहण की सापेक्ष होती है। किन्तु यह सत्यान्वेषण मूल्य के रूप में तब अत्यन्त भ्रामक हो सकता है जब यह अपनी व्यापकता के किसी सीमित क्षेत्र को समग्र मान लेता है, और यह तब भी भ्रामक होता है जब यह सत्य को दृष्टि की सम्पन्नता के रूप में नहीं देखकर संकलन या कौशल के रूप में देखता है। उदाहरण के लिए आईंस्टाईन के अन्वेषण का उत्कर्ष भौतिक तत्त्व-विषयक व्यापकतर सत्य को पाने में तो था ही, उतना ही अधिक इस सत्य को अपनी दृष्टि की सम्पन्नता के रूप में पाने में भी था। इसी कारण वह उन वैज्ञानिकों से भी महत्तर है जो उसके अन्वेषण का अर्थ और उसकी सार्थकता को समझते हैं और उनसे भी जो उसके अन्वेषण की न्यूनताएं खोज सके हैं। एक प्रकार से, इन दूसरे वैज्ञानिकों

के प्रेक्षण की अन्तर्वस्तु आईंस्टाईन से व्यातकनर है, किन्तु यह उनकी दृष्टि में प्रकाशित नहीं है, यह व्यापकता बाह्य प्रसारात्मक है।

सूर्योदय के सौन्दर्य–दर्शन में विषय प्रेक्षा का आलंबन नहीं होकर भावना का आलंबन होता है और प्रत्यङ्मुख चित्त में आलोकित होकर अर्थ प्राप्त करता है। इसका मूल्य इस आलोकित अर्थ की स्फुटता और सम्पन्नता में होता है। यहां पुनः मूल्य का स्रोत चित्त का प्रत्यङ्मुख ऊर्ध्वारोहण ही है जिसके उत्कर्ष के अनुसार भाव अर्थों का वैभव प्राप्त करते हैं। इसे दो चित्रकारों द्वारा सूर्योदय के चित्रण के उदाहरण से समझना सरल हो सकता है, जिनमें एक चित्र को हम दूसरे की अपेक्षा उत्कृष्टतर कहते हैं। इनमे एक चित्र की दूसरे की तुलना में उत्कृष्टता उसके आरेखन-कौशल या वर्ण-सौष्ठव में नहीं होती, बल्कि अर्थ-सम्पदा में होता है जो स्वयं सूर्योदय में उसी सीमा तक लक्षित होता है जिस सीमा तक भावना-ग्राही चित्त आत्म-प्रकाशित होता है। यह काव्य में और स्पष्ट देखा जा सकता है जिसमें भावना किसी बाह्या-लंबन के बिना ही पश्यनात्मक चित्त को प्रस्तुत होती है। जब राधा-कृष्ण, दुष्यन्त-शकुन्तला, या हीर-राँझा के रूप में किसी आलंबन को अपनाया भी जाता है तब यह आलंबन वास्तव में अर्थों के निरूपण के लिए कल्पित एक माध्यम होता है। भावना वास्तव में पश्यनात्मक (कांटेंप्लेटिव) चित्त के अर्थों को धारण करने के लिए उपादान मात्र बनती है। जिन मूल्यों में भावना उपा-दान बनती है उनको हम रागात्मक या रसात्मक मूल्य कह सकते हैं। एक तीसरे प्रकार के मूल्य हैं जिन्हें नैतिक कहा जाता है और जिनके पुनः अनेक प्रकार हैं : जैसे परोपकार, वीरता, मुक्ति, वैराग्य आदि। प्रकटतः इनमें परस्पर बहुत अन्तर है, किन्तु ये सब इस कारण नैतिक कहे जाते हैं क्योंकि इनमें चित्त द्वारा भावनाओं का नियमन और रूपान्तरण साक्षात्कृत श्रेयात्मक अर्थों से उनके अनुरूपता-विधान के उद्देश्य से होता है। यहां 'श्रेयात्मक' शब्द के अर्थ पर विचार आवश्यक नहीं है, यहां केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि जबकि सत्यान्वेषण में प्रेक्षकत्व की अकलुषता और सौंदर्यान्विषण में भावनागत अर्थों का परिशीलन पर्येष्य होता है नैतिक अन्वेषण में आवेगा-त्मक-भावनात्मक मनस् का श्रेयात्मक अर्थ-दृष्टि को समर्पण साध्य होता है। इस प्रकार नैतिक अन्वेषण में चित्तगत अर्थ भावना में अपने को उन्मीलित नहीं करते बल्कि इसमें ये अपने को प्रतिरुद्ध पाते हैं : नैतिक या श्रेयात्मक मूल्यों में अन्वेष्य व्यक्ति : अपनी समग्रता में अस्मिता : स्वयं होता है और इस प्रकार यहां पश्यनात्मक चित्त व्यक्ति-सत्ता या अस्मिता के अर्थों की उद्-भावना करता है। अब, क्योंकि व्यक्ति या अस्मिता सर्वसमावेशी है इसलिए नैतिक चेतना सत्या-न्वेषण और सौन्दर्यान्वेषण का भी समावेश करती है। उदाहरणतः उपनिषद् में विद्या और अविद्या दोनों के उपासकों को जो तमसावृत कहा गया है उसमें यही नैतिक अर्थ की ज्ञानात्मक अर्थ पर परमता द्योतित होती है। इसी प्रकार सौन्दर्यान्वेषण में भी है : सौन्दर्य-दृष्टि अपनी सम्यक्ता और व्यापकता के लिए नैतिक उत्कर्ष को पूर्वापेक्षित करती है और यह उत्कर्ष सौंदर्य-दृष्टि की सार्थकता के प्रश्न के समाधान को पूर्वापेक्षित करता है।

× × ×

जैसाकि हमने पीछे देखा, मूल्य अभावात्मक चेतना का भाव-दर्शन है। अभावानुभूति और उसकी पूर्ति के लिए उद्विग्नता चेतना का स्वभाव है और परिणामतः अभावमूलक यह उद्विग्नता जीव-मात्र में पायी जाती है : भूख-प्यास आदि मूलक उद्विग्नताएँ जैव उद्विग्नताएँ हैं।

वास्तव में सभी प्रयोजनात्मक अभिनिवेश को अभाव-पूर्तिमूलक पर्येषणा कहा जा सकता है और इस प्रकार व्यष्टि-जीव के स्तर पर अनुभूत उद्विग्नता को ही नहीं जीव-सृष्टिमूलक विकास को भी इसी पर्येषणा के रूप में देखा जा सकता है। इसी प्रकार भौतिक सृष्टि को भी देखा जा सकता है, जो यद्यपि अपने-आप में एक पूर्ण और अतएव स्थिर व्यवस्था है किन्तु जिसकी अगाध अपूर्णता जैव सृष्टि और पुनः चित्त के विकास से प्रकट होती है। किन्तु यह सब प्रयोजनात्मक अभिनिवेश मूल्यात्मक नहीं है, क्योंकि मूल्य के लिए चेतना का आत्मोन्मुख उद्दिष्ट होना आवश्यक है। प्रत्यङ्मुखता चेतना के, अथवा कहें सृष्टि ही के, इतिहास में एक मौलिक रूप से नव्य परिच्छेद है, क्योंकि केवल यही चेतना अभाव को, और भाव को, और स्वयं अपने को, प्रेक्षकत्व के आलोक में धारण कर सकती है और अभाव तथा भाव के बीच के अन्तराल के निवारण के प्रयत्न की साक्षी हो सकती है। वास्तव में भाव का प्रेक्षकत्व ही अन्तराल के निवारण के प्रयत्न को मूल्यवान् बनाता है, क्योंकि यह प्रेक्ष्य ही मानदंड बनकर अभाव को नापता है और प्रयत्न को अर्थ देता है।

किन्तु भाव के प्रेक्ष्यत्व का यह अर्थ नहीं है कि वह इन्द्रियविषयवत् या उसके प्रत्ययवत् स्फुट रूप से ग्राह्य होता है, वास्तव में वैसा वह कभी नहीं होता, वास्तव में कुछ अवस्थाओं में तो भाव की अवधारणात्मक स्फुटता और सम्यक्ता ही अन्वेष्य होती है। परिणामतः वह सिद्ध नहीं होकर साध्य होती है, और जहां यह अन्वेष्य नहीं होती वहां यह अपने-आपमें मूल्य भी नहीं होती, केवल उसके लिए सहायक मात्र होती है। उदाहरण के लिए गणित, तर्क, विज्ञान और दर्शन में अवधारणात्मक स्फुटता और संगति ही अन्वेष्य होती है जबकि कला और नीति आदि में वह अन्वेष्य नहीं होती, केवल यह उसमें सहायक होती है : संगीत में भावनागत अर्थों का और तदनुरूप ध्वनिगत अर्थों का प्रत्ययन पूर्वापेक्षित होता है, किन्तु साध्य उन अर्थों को ध्वनि में साधने की सामर्थ्य होती है। नैतिक मूल्यों में भाव बुद्धिग्राह्य रूप में नहीं बल्कि संपूर्ण चेतना : भावना, आवेग और विचार : के तदनुरूप हो जाने के रूप में साध्य होता है। किन्तु तब, यह भाव क्या है जो साध्य है? आत्मा किस अभाव से व्यवहित है? ये प्रश्न विचार-कोटि-मूलक हैं और परिणामतः इनका समाधान भाव की प्रत्यय-रूप में ग्राह्यता की अपेक्षा करता है। उदाहरणतः किंकर्त्तव्यविमूढ़ता प्रेक्षणात्मक और पश्यनात्मक दोनों स्तरों का संयुक्त संशय है जो युक्त : उचितः कर्म करने के संकल्प को, और इस प्रकार नैतिक व्यक्ति को, उसकी समग्रता में पूर्वकल्पित करता है। किन्तु युक्त कर्म क्या है, इसके लिए प्रेक्षक दृष्टि की निष्कलुषता अपेक्षित होती है, जिसके लिए अनुक्रमशः व्यक्ति के अस्तित्वात्मक पक्षों, विशेषतः आवेगों और भावनाओं पर अधिष्ठातृत्व की सिद्धि अपेक्षित होती है।

किन्तु किंकर्त्तव्यविमूढ़ता विशिष्ट प्रसंगों में होती है जबकि नैतिक अभाव-बोध जागतिक अस्तित्वमात्र को लेकर होता है और इस अस्तित्व की सार्थकता, जो पहले असंदिग्ध थी, संदिग्ध हो जाती है। धर्म इस सन्देह के समाधान का एक प्रयत्न है, अथवा कहें यही एक ऐसा प्रयत्न है, स्वभावतः तत्त्वमीमांसा उसका अनिवार्य अंग होती है। किन्तु इस सन्देहदृष्टि का जागरण अपने-आपमें आत्मप्रवास की चेतना का, स्वभाव से च्युत होने की अभिज्ञता का, और इस प्रकार चेतना की आत्माभिमुखता का, द्योतक होता है, जो सत्यान्वेषण-भावान्वेषण के लिए अनिवार्य है।

यहां संक्षेप में इस अवान्तर प्रश्न पर विचार भी स्थाने होगा कि इस सन्देह और अन्वेषण की युक्तता क्या है ? जागतिक जीवन की विपुलता के अन्वेषण, जिसमें कलाएँ और विज्ञान भी सम्मिलित हैं, की युक्तता स्वतःसिद्ध है, किन्तु जगद्भाव मात्र पर सन्देह और इससे परे भाव के अन्वेषण की युक्तता के लिए आरंभ-बिन्दु कौन-सा होगा ? इसका समाधान है कि इस सन्देह का, इस अभावानुभूति का होना मात्र इसकी युक्तता के लिए प्रमाण है : कि यह प्रश्न न केवल किया जा सकता है बल्कि प्रत्येक प्रत्यङ्मुख चेतना इसकी आकुलता अनुभव करती है यही इसके लिए प्रत्यक्ष प्रमाण है कि यह अस्तित्व : जागतिक जीवन : और इसके सब अन्वेषणों के मूल्य सन्दिग्ध हैं, परिणामतः भाव का : सत्ता का, मूल्य का : आवास कहीं अन्यत्र है। किसी भाव की आगन्तुकता के लिए इसके अतिरिक्त और क्या प्रमाण हो सकता है कि वह आगन्तुक रूप में अवधार्य है ? : "मैं इस क्षण में इस स्थान पर हूँ, किन्तु यह अवधार्य है कि मैं इस क्षण में इस स्थान पर नहीं होता" प्रतिज्ञप्ति का होना मात्र इस बात के लिए प्रमाण है कि मेरा इस क्षण पर यहां होना आगन्तुक है। और यह सन्देह जहाँ एक ओर प्रस्तुत की सार्थकता की न्यूनता के लिए प्रमाण है वहीं अन्यूनार्थ की विद्यमानता के लिए भी प्रमाण है, जो अन्यूनार्थ अवगत नहीं होने पर भी अपनी सत्ता में सन्दिग्ध नहीं होता, जिस प्रकार सत्य-सन्धान और सौन्दर्य-सन्धान में सिद्ध स्तर से उत्कृष्टतर स्तर की सत्ता अनुपलब्ध होने पर भी संदिग्ध नहीं होती।

किन्तु आत्मा की स्वभाव-च्युति की अनुभूति की प्रामाणिकता असंदिग्ध होने पर भी उस प्रकार सहज स्पष्ट नहीं होती जिस प्रकार किसी प्राणी की उसके प्रत्यय से अथवा चित्र की उसकी अवधारणा से न्यूनता स्पष्ट होती है। इस स्वभाव-च्युति को आत्म-अनात्म-अविवेक, अथवा अकुशलता भी कहा जाता है। इसके विपरीत, आत्मा का स्वभाव स्वातंत्र्य कहा गया है, जो साध्य के रूप में अनात्म का निवारण है। वास्तव में अर्थान्वेषण, ज्ञानान्वेषण या सौन्दर्यान्वेषण मात्र की सार्थकता में सन्देह संभव है। यह सन्देह इनके आत्मानुकूल होने में होता है। संदेह की यह संभावना आत्मा की अर्थमात्र से अतिक्रान्तता की द्योतक है।[1] किन्तु तब, आत्मा का स्वभाव या स्वातंत्र्य क्या है ?

इस प्रश्न पर विचार के लिए पहले चित्र की उसकी अवधारणा से न्यूनता के स्वरूप पर विचार करना उपयुक्त होगा। चित्र की न्यूनता हम कैसे जानते हैं ? इसका उत्तर हो सकता है कि उसकी अवधारणा से तुलना करके। किन्तु तब, इस चित्र की अवधारणा को हम कैसे जानते हैं ? यहां सार्त्र का उल्लेख रोचक होगा। उसके अनुसार, "कोई अनुभूति किसी प्रतिमान की विद्यमानता में अनुभूत होती है.... । यह प्रतिमान, अथवा अनुभूतिमय आत्मा की समग्रता, अभाव की वेदना के रूप में स्वयं इस वेदना के ही भीतर प्रत्यक्ष प्रस्तुत होती है। हम दुःखित होते हैं और साथ ही पर्याप्त रूप से दुःखित नहीं होने के लिए दुःखित होते हैं। वह दुःख जिसके अनुभव की हम बात करते हैं, कभी ठीक वही नहीं होता जिसका हम अनुभव करते हैं। जिसे हम "उत्तम", 'पावन' अथवा 'सच्चा' दुःख कहते हैं, और जो हमें द्रवित करता है, वह दुःख वह होता है जो हम दूसरों के चेहरे पर देखते हैं, बल्कि उससे भी अधिक उपयुक्त रूप से, जो

1. द्रष्टव्य यशदेव शल्य, "मनुष्य और जगत्", इन्दुप्रकाशन, दिल्ली, 1985 में "धर्म-दर्शन" अध्याय।

हम चित्रगत अथवा मूर्तिगत चेहरे पर अथवा किसी दुःखाभिव्यंजक नकाब में देखते हैं।"[2] यह सही है, किन्तु सार्त्र यहां यह विचार नहीं करता कि हम इस चित्र या मूर्ति को किस प्रतिमान पर कल्पित करते हैं। हम कहना चाहेंगे कि अनुभूत दुःख पश्यनात्मक चित्त को अपना आकार प्रस्तुत करता है जो आकार अभिव्यक्ति की विधाओं से तटस्थ होता है, किन्तु यह चित्त अभिव्यक्ति की जिस भी विधा को अपनी अभिव्यक्ति के लिए अंगीकार करता है उसके लिए यह उस आकार के आधार पर आदर्श प्रतिमान को कल्पित करता है जिसके अनुसार चित्रकार चित्र का, कवि कविता का और गायक संगीत का सृजन करता है। यह प्रतिमान और उसका बीजभूत आकार दोनों उतने ही स्पष्टतः ग्राह्य होते हैं जितनी स्पष्ट ग्राहक की चेतना : भावुक की पश्यना: होती है। इसीसे कभी-कभी दर्शक चित्रकार से और पाठक कवि से अधिक स्पष्टता से चित्र अथवा कविता की न्यूनता को और उसके अन्यून प्रतिमान को देख पाता है। यहां यह विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि भावना स्वयं एक अभिव्यक्ति है : यह चित्त का विजृंभन, उस का स्फुटन है, किन्तु चित्र या काव्य भावनात्मक अभिव्यक्ति नहीं है, यह भावना की पश्यनात्मक अभिव्यक्ति है और इस प्रकार भावनाधीन नहीं है; यह भावना के आकार को स्वीकार करने और इसे सृजनात्मक कल्पना में रचने में स्वतंत्र होती है : अर्थात् न तो यह कल्पना किन्हीं कारणों के अधीन होती है और न वह मूल आकार जो पश्यना में गृहीत होता है; ये दोनों चित्त के स्वतंत्र आक्षेप होते हैं। किन्तु चित्र या काव्य इस स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति होते हुए भी उससे न्यून रहता है, जो न्यूनता केवल इस पक्ष में नहीं होती कि चित्र अपने कल्पना-मूलक प्रतिमान के लिए पर्याप्त नहीं होता बल्कि इस पक्ष में भी होती है कि पश्यना द्वारा गृहीत भावना का आकार स्वयं इस प्रतिमान से भी अतीत होता है और इस प्रकार काव्य, चित्र, उपन्यास या दार्शनिक लेखन में व्यक्त इसके विमर्श सब औपाधिक होते हैं। इस प्रकार, यद्यपि चित्र की न्यूनता हम उसके कल्पित प्रतिमान से आंकते हैं, किन्तु वास्तव में यह न्यूनता द्विविध होती है।

आत्मगत न्यूनता का प्रश्न इससे कहीं अधिक जटिल है, यद्यपि इससे इसकी अनुरूपता भी है। सब मूल्यान्वेषण अंततः आत्मान्वेषण है : दार्शनिक, वैज्ञानिक या धार्मिक व्यक्ति सत्यान्वेषण में, कलाकार सौन्दर्यान्वेषण में, और समाजसुधारक कर्मात्मक अन्वेषण में वास्तव में आत्मकल्पित आत्म-प्रतिमा को अस्तित्व में चरितार्थ करने के उद्देश्य से ही प्रवृत्त होते हैं। उसका यह अन्वेष्य अस्तित्व अपने सब आयामों : विचार, आवेग, भावना, संवेद और क्रिया: की समग्रता के साथ पश्यना में अपना आकार प्रस्तुत करता है, जो आकार विशिष्ट रूप से अपनी अस्मिता के आदर्श प्रतिमान का आक्षेप करता है, जिसे वह अपने लौकिक व्यक्तित्व के माध्यम में पुनः चरितार्थ करने के प्रयत्न में दार्शनिक, वैज्ञानिक या कलाकार आदि होता है। पश्यना में अस्तित्व का यह आकार-ग्रहण और उसका अस्मिता में निरूपण, दूसरे शब्दों में आत्म-प्रतिमा के आक्षेप का प्रथम नैतिक संकल्प, चेतना का पूर्णतः स्वतंत्र कर्म होता है और इस कर्म के लोक में अन्वयन में वह उतना ही स्वतंत्र होता है जितना वह अपने आदिम संकल्प में : अर्थात् व्यक्ति-रूप में अपनी प्रतिमा के आक्षेप के कर्म में : प्रतिष्ठित रहता है। जैसाकि स्पष्ट है, पश्यना और संकल्प दोनों में वह अहंकारोपहित व्यक्ति नहीं होता, व्यक्ति वह अस्तित्व में होता है

2. ज्यां पॉल सार्त्र : बींग एंड नथिंगनेस, वाशिंगटन, स्क्वेयर प्रैस, पृ० 141-42.

जिसका अतिक्रमण वह सब प्रत्यङ्मुख अतिक्रमणों में करता है। यह अतिक्रमण समग्रात्मक तब होता है जब यह नैतिक, अर्थात् अस्तित्व का समग्रतः, होता है : "यह कर्म, यह भावना, यह प्रवृत्ति, मेरे योग्य नहीं है" इस संकल्प के रूप में। अपने में आत्म-प्रतिकूलता का यह बोध उस मूल नैतिक संकल्प के अनुसार होता है जो संकल्प प्रतिमान के रूप में व्यक्ति-प्रतिमा का प्रतिष्ठापक होता है। यहां यह आपत्ति हो सकती है कि हमारा यह नैतिक व्यक्तित्व सामाजिक संस्कारों और शारीरिक प्रकृति के अनुसार निर्धारित होता है न कि सृजनात्मक चेतना : स्वातंत्र्य : द्वारा संकल्पित। यह आपत्ति उस सीमा तक सही है जहां तक यह साधारण व्यक्ति के साधारण व्यवहार के सम्बन्ध में है, और उस सीमा तक यह व्यवहार उसकी पराङ्मुखता का सूचक होता है। किन्तु इस व्यवहार का नैतिक तत्त्व, यदि वह उसमें होता है तो, चेतना के प्रत्यङ्मुख जागरण के स्तर के अनुसार ही निर्धारित होता है और इस प्रकार पराङ्मुख निर्धारण इस जागरण की प्रभावहीनता का द्योतक होता है।

अस्तित्व के इस अतिक्रमण में अस्तित्व का निषेध अपेक्षित नहीं है। अस्तित्व चित् में अर्थों के उद्घाटन और उन अर्थों के ऐन्द्रिक आयाम में प्रत्यंकन का हेतु होता है। उसके बिना न प्रत्यङ्मुखता सक्रिय हो सकती है और न आत्म-प्रतिमा का आक्षेप सम्भव है, व्यक्तित्व के आविर्भाव का तो प्रश्न ही कहां रह जाता है। वास्तव में भाव : सत्त्व : के लिए अस्तित्व में क्रियान्वित होना उतना ही अनिवार्य होता है जितना अस्तित्व से परिसीमित नहीं होना: ऐसा भी कह सकते हैं कि भाव आत्म-अतिक्रमणशील अस्तित्व है, यह भाव्यात्मक पर्यन्तता है। किन्तु तब भी नैतिक सन्दर्भ में भाव को अस्तित्व का जो अतिक्रमण करना होता है वह किसी चित्र की असम्यक्ता या सदोषता, अथवा देह की अस्वस्थता की निवारणीयता जैसा नहीं होता, ये न्यूनताएं सत्ता को केवल अंशतः और निम्न स्तरों पर व्याप्त करती हैं; नैतिक दोष आत्मविदित सत्ता में आत्म-व्यवधान होता है जो सत्ता को गहनतम स्तरों पर आविल करता है। वासनाएं और आवेग इस व्यवधान के उपादान बनते हैं। उदाहरणतः "मुझे अमुक कर्म करना चाहिए या नहीं ?" इस सन्देह के सभी सन्दर्भ किसी वासना, आवेग या संभावित सुख-दुःख से संबंधित होते हैं जिनसे उबार सही निर्णय के लिए अनिवार्य होता है : कुरुक्षेत्र में अर्जुन का संदेह इसका उत्कृष्टतम उदाहरण है, चौरीचौरा में गांधीजी द्वारा सत्याग्रह वापिस लेने का निर्णय इसका एक दूसरा उदाहरण है। किन्तु द्रष्टव्य है कि ऐसे सब प्रसंगों में निर्णय के लिए पश्यना को उन भावनाओं के स्वरूप पर मनन करना होता है जो भावनाएँ कर्म की परिस्थिति में उत्पन्न होकर निर्णय में : भाव के स्वरूप-दर्शन में : बाधक होती हैं। इस प्रकार भावनाएँ ही यहां व्यवधान होती हैं और वे ही मननीय होती हैं। मनन-कर्ता जहां तक इनसे स्वतंत्र होता है वहीं तक उसका निर्णय नैतिक होता है। इस प्रकार नैतिक निर्णय स्वातंत्र्य को और व्यवधान के निवारण को पूर्वकल्पित करता है।

किन्तु यहां आपत्ति हो सकती है कि यह कैसे जाना जाय कि जिस भी निर्णय पर हम पहुँचते हैं उस निर्णय पर पहुँचना पूर्वनिश्चित नहीं था और इस प्रकार संपूर्ण ऊहापोह, अन्तर्द्वन्द्व और मनन के उपरान्त लिया गया हमारा निर्णय वास्तव में वही नहीं होता जो होना हमारे वासना–आवेग-संस्कार आदिमूलक स्वभाव के अनुसार पूर्वनियत होता है। इस प्रकार का प्रश्न वास्तव में बहुत बड़े पूर्वाग्रह : तत्त्वमीमांसीय पूर्वमान्यताः पर आधारित है। इसमें

कारण–कार्य–नियम की सार्वभौमता में अविचारित आस्था निहित है। अन्यथा इसके अपवाद नैतिक निर्णय में ही नहीं मानवीय प्रज्ञा के सब व्यापारों में पदे-पदे परिलक्षित होते हैं। उदाहरण के लिए, परस्पर विचार-विमर्श के क्रम में उस समय तक की हमारी धारणाओं में सहसा परिवर्तन : "हाँ, अपकी बात समझ में आ गई" : अथवा, विचार करते हुए सहसा एक संपूर्णतः नई दृष्टि का आलोकित हो उठना, ये सब कारण–कार्यात्मक निर्धारण के उदाहरण नहीं हैं। फिर वह तो और भी नहीं है जहाँ संघर्ष मन की सहज प्रवृत्ति और धारणाओं से होता है। उदाहरण के लिए, महाराणा प्रताप के शौर्य को परम्परा-प्राप्त धारणाओं का अनुसरण चाहे कह भी दें किन्तु महात्मा गांधी के आत्म-संर्जन को परम्परा-प्राप्त धारणाओं का परिणाम नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वहां स्वयं के द्वारा स्वयं के निर्धारण का एक अद्भुत संकल्प दिखायी देता है। आत्मनिर्धारण का मार्ग और लक्ष्य कहां तक परम्परा-प्राप्त था, इससे उस निर्धारण की स्वतंत्रता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह द्रष्टव्य है कि नैतिक सर्जन विचार के नावीन्य में नहीं आत्म–अस्तित्व के अधिष्ठातृत्व में होता है। इसी से महाराणा प्रताप का अदम्य साहस नैतिक स्वातंत्र्य की ही अभिव्यक्ति है, फिर चाहे वह राजपूत परम्परा का कितना भी अनुसारी हो।

यहां गांधीजी और महाराणा प्राताप के उदाहरणों से 'आदिम संकल्पपूर्वक आत्म-प्रतिमा के आक्षेप' के आशय को समझने में भ्रान्ति हो सकती है। वास्तव में इस प्रतिमा का आक्षेप उस आदर्श प्रतिमान का आक्षेप है जो स्वातंत्र्य में, दूसरे शब्दों में असद्गर्भ में से, होता है और जिसके अनुसार व्यक्ति अपने को नापता और चरितार्थ करने का प्रयत्न करता है। यह प्रयत्न अपने उज्ज्वलतम रूप में महात्मा बुद्ध और महात्मा गांधी जैसे व्यक्तियों में परिलक्षित होता है, किन्तु राधा, हीर-रांझा, कालिदास और नागार्जुन आदि इसके दूसरे उज्ज्वल उदाहरण हैं। यह द्रष्टव्य है कि राधा महात्मा बुद्ध से अपने व्यक्तित्व का विनिमय स्वीकार नहीं करेगी, क्योंकि दोनों अस्तित्व में भाव की पर्यन्तताएं हैं। सब व्यक्तित्व इसी प्रकार आदिम स्वतंत्र संकल्प-मूलक प्रतिमानों के आक्षेप हैं, यद्यपि अधिकांश व्यक्तियों का जीवन प्रतिमान-भ्रष्टता का वृत्तांत अधिक होता है, सफल क्रियान्वयन का कम।

मानव-चित्त अपने स्वरूप में : आत्म-सत्ता में : स्वतंत्र है, इसके लिए कांट ने दो प्रमाण दिये हैं—एक यह कि नैतिक अनुभव स्वातंत्र्य को पूर्वापेक्षित करता है और नैतिक अनुभव की प्रामाणिकता प्रत्यक्ष है; दूसरा यह कि कारण-कार्यात्मक सम्बन्ध विषय-बुद्धिमूलक व्यवस्था है, किन्तु कारण-कार्य-शृंखला का आरम्भ कल्पनीय नहीं होने से यह व्यवस्था के रूप में कभी पूर्ण नहीं हो सकती और इस प्रकार विकल्प-बुद्धि के नियम का अतिक्रमण करती है। इस व्यवस्था की पूर्णता की यह अपेक्षा है कि इसमें कोई आदि कारण हो, जो कारण इस व्यवस्था से बाहर के तत्त्व की विद्यमानता का संकेत देता है। इन दो युक्तियों में पहली पूर्णतः आधारभूत और अकाट्य है क्योंकि प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित है, किसी कल्पित पूर्वप्रतिज्ञा पर नहीं, जबकि दूसरी युक्ति कांट की दर्शन-व्यवस्था की युक्तता को पूर्वमान्य करती है, जिसकी युक्तता स्वतःस्पष्ट नहीं है, और उससे भी यह अनिवार्यतः आपादित नहीं होती : यदि प्रत्येक कार्य के कारण-मूलक होने से इस कार्य-शृंखला का कोई आरम्भ नहीं हो सकता तो इससे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि यह व्यवस्था तर्कतः अपने अतिक्रमण को पूर्वापेक्षित करती है। फिर, कारण-

कार्यात्मक शृंखला अनादि होकर भी कम से कम बौद्धिक कोटि तो रहती है, जबकि स्वातंत्र्य बौद्धिक कोटि का अतिक्रमण करता है और परिणामतः इससे बौद्धिक व्यवस्था आत्मपूर्णता प्राप्त नहीं कर सकती, क्योंकि संकल्प, या आदि कारण, अथवा स्वातंत्र्य बौद्धिक प्रत्यय नहीं है ।

किन्तु कांट की प्रथम युक्ति निरापद और महत्त्वपूर्ण है, इसे किसी और समर्थन की आवश्यकता नहीं है । किन्तु यह प्रामाणिकता इस तार्किक पूर्वापेक्षा के रूप में नहीं है कि नैतिक कर्म नैतिक उत्तरदायित्व को पूर्वकल्पित करता है और नैतिक उत्तरदायित्व नैतिक स्वातंत्र्य को । इस प्रकार की युक्ति केवल दण्ड-व्यवस्था के औचित्व को सिद्ध करती है और इसका निराकरण इतने मात्र से किया जा सकता है कि "अपने कर्म के लिए वास्तव में ही कोई उत्तरदायी नहीं है और परिणामतः दण्ड का कोई तात्त्विक औचित्य नहीं है, केवल व्यावहारिक उपयोगिता है ।" इस प्रकार स्वातंत्र्य के लिए युक्ति नैतिक अनुभव : नैतिक चेतना : की संरचना में निहित है, जो अनुभव अव्यवहित है । किन्तु जैसा कि हमने पीछे देखा, स्वातंत्र्य चेतना के प्रत्येक प्रत्यङ्मुख साक्षात्कार में है नैतिकता जिसका उत्कृष्टतम रूप है । इस संरचना के दो पक्ष हैं, किंकर्तव्यविमूढ़ता में कर्त्तव्य के निर्णय की प्रक्रिया-परक : क्योंकि इस निर्णय में सब प्राकृतिक प्रेरणाएं और प्रवृत्तियाँ निवारणीय होती हैं : और दूसरा आत्मोत्कर्षण की साधना-परक : जिसमें व्यक्ति अपने भाव की प्राप्त स्थिति को अप्राप्त स्थिति से नापता है और उसे न्यून : अभाव-व्यवहित : पाता है और जिसमें उसे अपने अस्तित्व और अपने अन्वेषणों की सार्थकता सन्दिग्ध दिखायी देने लगती है । स्वतंत्रता के ये दोनों पक्ष अस्मिता को उसके ठोसतम रूप में प्रस्तुत करते हैं और इनमें स्वयं अस्मिता ही विवेच्य और अपने प्रतिमान के लिए संकेत बनती है ।

4

आत्म-अनात्मवाद पर एक विहंगम दृष्टि

नारायण शास्त्री द्रविड़

अनात्मवाद का पुरस्कार तथा समर्थन यद्यपि भारतीय दर्शन, विशेषतया बौद्ध दर्शन, तथा समकालिक पश्चिमी दर्शन में प्रायः समान बौद्धिक अभिनिवेश के साथ किया गया है तथापि इनकी उपोद्बलक प्रेरणायें एक-दूसरे से नितांत भिन्न हैं। बौद्ध दर्शन-सम्प्रदायों द्वारा समर्थित अनात्मवाद या नैरात्म्यवाद के मूल में यह आध्यात्मिक धारणा है कि मानव की अवनति या अकल्याण का मुख्य कारण 'आत्मदृष्टि' अथवा शरीर से प्रारंभ कर तत्संबद्ध अन्यान्य वस्तुओं से आबद्ध आत्म या आत्मीयत्व-भावना है जो मानवीय व्यक्तित्व के घटक रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार जैसे विशकलित क्षणभंगुर तत्त्वों के संहतीकरण में सहायक होती है। इस संहतीकरण की प्रक्रिया से जो व्यक्तित्व-रूप संघात निर्मित होता है वह वास्तविक न होकर "विकल्प" मात्र होता है। यही संघात ग्राह्य-ग्राहक जैसे अन्य अनेक व्यावहारिक जीवन के लिये उपयुक्त कृत्रिम संघातों का निर्मायक होता है। अधिकाधिक जटिल संघातों की निर्मिति की प्रक्रिया निरंतर जारी रहने से संसार-चक्र की गति अक्षुण्ण बनी रहती है। इस चक्र के आवर्तन से मुक्त होने के लिए 'आत्म-दृष्टि' रूप उसके अक्ष को ही नष्ट करना आवश्यक है। बौद्ध दार्शनिकों के विचार में सुबुद्ध मानव ही नहीं, श्रेष्ठ (आत्मवादी) दार्शनिक भी आत्मवाद के चंगुल में फँसकर पथ-भ्रष्ट हो गये हैं। "आत्मदृष्टौ विनष्टाः सर्वे तीर्थिकाः" ऐसी तीव्र भर्त्सना आस्तिक दार्शनिकों की एक बौद्ध पंडित ने जो की है उस पर से यह बात स्पष्ट हो जाती है। स्वलक्षण, क्षणिक सत् को स्थिर, सामान्य स्वरूप प्रदान कर आत्मात्मीय व्यवहार को प्रसारित करने वाली आत्म-दृष्टि के पूर्णतया नष्ट हुए बिना क्षणिक वस्तुस्वरूप उद्घाटित नहीं हो सकता और इसके बिना स्थिर सांघातिक संसार-रूप बंध से मुक्ति या इस बंध का विनाश नहीं घटित हो सकता। इस कारण बौद्ध नैरात्म्यवाद

की प्रेरणा पूर्णतया आध्यात्मिक माननी चाहिये, भले ही उसके समर्थन में ज्ञानश्रीमित्र जैसे प्रकांड बौद्ध पंडितों ने आत्यंतिक तर्क-कर्कशता प्रकट की हो।

समकालिक पश्चिमी दर्शन में चर्चित अनात्मवाद की प्रेरणा नितांत अनाध्यात्मिक है। मानव के बंध या मोक्ष का किंचित् भी विचार न करते हुए वस्तु, घटना आदि संबंधी प्रकथनों के अर्थ का विश्लेषण कर इस विश्लेषण में से जो अपवार्य अंश है उसे अपवारित करने के सिलसिले में तथाकथित आत्म-तत्त्व का समकालिक दर्शन में अपवारण किया जाता है। इसका मतलब यह है कि 'आत्म' एक विश्लेषणार्ह अथवा न्यायशास्त्र की परिभाषा में एक सखण्ड अवधारणा है क्योंकि उसको एक स्वतन्त्र अवधारणा माने बिना भी जिन प्रकथनों में वह अन्तर्भूत होती है उनके अर्थ का परिष्कार किया जा सकता है, जिन घटकों में इस अवधारणा का विश्लेषण संभव है। उन घटकों के द्वारा यह तर्कतः संरचित समझी जा सकती है। 'तर्कतः संरचित' का स्पष्टीकरण यह दिया जाता है कि जिन वाक्यों में 'आत्म' शब्द का अर्थपूर्ण प्रयोग हो उन सबको ऐसे वाक्यों से स्थानांतरित किया जा सकता है जिनमें इस शब्द की विश्लेषक पदावली का प्रयोग हो। 'आत्म' शब्द का सामान्यतः प्रयोग करने वाले अदार्शनिक व्यक्ति को यह स्पष्टीकरण अतीव दुर्बोध तथा विपर्यस्त प्रतीत होगा। वह इस बात को स्वीकार करने के लिए कभी तैयार नहीं होगा कि वह जब 'आत्म' शब्द-युक्त वाक्य बोलता है तब उसका मतलब किसी अत्यन्त भिन्न वाक्य से ही होता है। अधिक से अधिक उससे यही बात मनवायी जा सकती है कि किसी वाक्य में 'आत्म' शब्द का प्रयोग सार्थक एवं युक्त मानने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसके वाच्य किसी पदार्थ या वस्तु की सत्ता भी मानी जाय। किन्तु इस प्रकार रूपांतरित किया गया 'आत्म' शब्द-रहित वाक्य जिस अर्थ का प्रतिपादन करेगा वह पूर्व वाक्य के उच्चारक के अभिप्रेत अर्थ से नितांत भिन्न होगा। यही कारण है कि तार्किक विश्लेषणवादी 'आत्म' की अवधारणा को 'तर्कतः संरचित' कहते हैं।

बौद्ध अनात्मवादी आत्मादि की अवधारणा को विकल्पारूढ़ या विकल्पनिर्मित, अर्थात् आध्यासिक, कहते हैं। उनके मतानुसार भी ये अवधारणाएं सखंड हो सकती हैं या अखंड भी, किन्तु वे वस्तुसत् पर अनादि वासना के प्रभाव से अध्यस्त या आरोपित होती हैं। इनका मूल मानसिक है, वस्तुगत नहीं। तो भी विशिष्ट मानसिक संस्कार या आवेग के कारण ये वस्तु सत् पर प्रक्षिप्त होती हैं, ऐसा मानने में इन अवधारणाओं को अनिवार्यतः सखंड या विश्लेषार्ह स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक (मानसिक) विकल्प बाह्य वस्तुओं या उनके विभिन्न संनिवेश की ही प्रतिकृति हुआ करता है, यह मत अन्य यथार्थवादी भले ही पुरस्कृत करें बौद्ध उसे स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं हैं। किसी भी विकल्प का बौद्धिक आधार बौद्धों के विचार में बाह्य, क्षणिक तथा स्वलक्षण वस्तुसत् कदापि नहीं हो सकता। इस कारण प्रत्येक विकल्प को पूर्णतया मनःप्रसूत ही मानना होगा। विज्ञानवादी बौद्ध तो बाह्य मात्र को अस्वीकार कर स्वलक्षण (तथाकथित) बाह्य वस्तु की अवधारणा को ही विकल्पारूढ़ प्रतिपादित करते हैं। इस सारे विवरण का तात्पर्य यह है कि 'आत्म' जैसी अवधारणाओं को तर्कतः संरचित मानने की अपेक्षया अनादि वासना-संस्कारोद्बुद्ध विकल्प के रूप में देखना अधिक उपयुक्त है। भारतीय तथा पश्चिमी अनात्मवाद में उपर्युक्त मौलिक भेद उनके आत्म

तथा अनात्म विषयक प्रमाणों को सर्वथा भिन्न रूप दे देता है। आत्म-साधक भारतीय आत्म-वादियों के प्रमाण प्रायः आनुभविक ही होते हैं। बौद्धों के अनात्मवाद-समर्थक प्रमाण भी साक्षात् अनुभवाधारित न होते हुए भी अनुभव-संबद्ध ही हुआ करते हैं। 'मिलिंद प्रश्न' नामक महत्त्वपूर्ण बौद्ध ग्रंथ में इन प्रमाणों का विस्तृत विवरण उपलब्ध है। इसके विपरीत पश्चिमी दर्शन में 'आत्म' तथा 'अनात्म' दोनों के स्थापक अनुभव-निरपेक्ष तर्क ही प्रस्तुत किये गये हैं। वैसे देखा जाय तो आत्म-साधनार्थ आनुभविक या अन्य प्रकार के प्रमाणों को उपस्थित करने की आवश्यकता देकार्त के पूर्व अन्य किसी पश्चिमी दार्शनिक को प्रतीत नहीं हुई। देकार्त को भी वह इसलिए प्रतीत हुई कि वह अपने दर्शन की आधारशिला के रूप में किसी एक ठोस, अनिवार्य तथ्य को सामने लाना चाहता था। ऐसा तथ्य उसे संदेह या विचार की मानसिक क्रिया के रूप में प्राप्त हुआ। इस क्रिया पर से उसने आत्म की सत्ता को प्रथम निष्कृष्ट करने का प्रयास किया। देकार्त के प्रतिपक्षियों ने भी अनात्म-साधन या आत्म-निरसन के लिए किसी अनुभव का साक्ष्य प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं महसूस की। उन्होंने तर्कतः ही आत्म-साधक युक्तियों का प्रतिवाद किया है। निम्न विवेचन में हम यह तथ्य विशद करना चाहेंगे कि अनुभव के साक्ष्य की उपेक्षा कर देकार्त द्वारा उपस्थापित आत्मसाधक तर्क तथा उसके आक्षेपकों द्वारा प्रस्तुत किये गये अनात्मवादी तर्क दोनों ही अग्राह्य हैं। इसके बाद हम भारतीय दर्शन-संम्मत आत्म-संस्थापक प्रमाण की चर्चा करेंगे।

देकार्त कहता है कि सभी बाह्य और आंतरिक वस्तुओं की सत्ता किसी न किसी प्रसंग में संशयास्पद हो सकती है—जैसे स्वप्न में, तंद्रावस्था में, विभ्रम की स्थिति में वस्तुएं जैसी होती हैं वैसी प्रतीत नहीं होतीं। यदि परिस्थिति-विशेष में वस्तुओं का स्वरूप विपर्यस्त होकर अनुभवगोचर होता हो तो सामान्य परिस्थितियों में भी वह विपर्यस्त नहीं होता, यह कैसे कौन सिद्ध करे? अतः, वस्तुमात्र की सत्ता वास्तविक संशय का विषय भले ही न हो आहार्य संशय का विषय वह अवश्य हो सकती है। इसका मतलब यह है कि तर्कतः किसी भी वस्तु की सत्ता निश्चेय मानने योग्य नहीं है। ऐसा होते हुए भी वस्तुमात्रविषयक संदेह की सत्ता, जो 'मैं संदेह करता हूं' इस वाक्य से अभिव्यक्त होती है, किसी भी प्रकार संदेहास्पद नहीं हो सकती। स्वयं संदेह ही घटित न हो तो कोई भी सत्ता उसका विषय कैसे बन पायेगी? यदि इस कारण संदेह की घटना को निस्सन्दिग्ध मान लें तो उस पर से संदेह-कर्ता की सत्ता को अनायास तर्कतः ही निष्कृष्ट किया जा सकता है। कोई भी संदेह बिना संदेह-कर्ता के घटित ही नहीं हो सकता। संदेह का वर्णन करने के लिए 'मैं' जैसे कर्तृ पद का प्रयोग जो अनिवार्यतया किया जाता है उस पर से संदेहकर्ता के, संदेह-घटना में (तार्किक) समावेश की बात अपने-आप स्पष्ट हो जाती है।

देकार्त का यह सीधा-सादा आत्म-साधक तर्क है। किसी भी अन्य पश्चिमी दार्शनिक ने आत्म-सत्ता के स्थापनार्थ इतना सरल किंतु अतीव बहुचर्चित तर्क प्रस्तुत नहीं किया है। इस तर्क में अनेक कमियां हैं: प्रथम हम एयर तथा रसल ने जो कमियां या दोष इस तर्क में उद्भावित किये हैं उनका परीक्षण करेंगे। एयर का उक्त तर्क पर एक आक्षेप यह है कि 'मैं संदेह करता हूं' यह किसी अनिवार्य घटना का वर्णन नहीं है। मुझे जो संदेह हुआ है वह नहीं भी होता। ऐसी घटना पर से (या उसके ज्ञान से) आत्मरूप तथाकथित अनिवार्य सत् का

निष्कर्षण तर्कसंगत नहीं है। यह भी वस्तु-स्थिति नहीं है कि एक संदेह के अनंतर अन्य संदेह या अन्य मानसिक घटनाओं का सिलसिला बना रहे जिस पर से उनके संयोजक (या आधारभूत) आत्म की सत्ता प्रस्थापित की जा सके। हो सकता है कि उक्त संदेह के अनंतर कोई अन्य मानसिक घटना ही घटित न हो। ऐसी स्थिति में एक संदेह पर से कोई भी निष्कर्ष निकालना संभव नहीं है।

एयर का दूसरा आक्षेप वही है जिसे रसल ने अपने **अनेलेसिस आफ माइंड** इस ग्रंथ के प्रारंभ में उपस्थित किया है। एयर और रसल कहते हैं कि जैसे अंग्रेजी के 'इट् रेन्स' जैसे वाक्स के अंतर्गत 'इट्' कर्तृपद किसी वर्षाकारक वस्तु का निर्देश नहीं करता और उक्त वाक्य का 'वर्षा होती है' ऐसा सरल अर्थ होता है, वैसे ही 'मैं संदेह करता हूं' इस वाक्य में 'मैं' शब्द भी किसी कर्ता का निर्देश नहीं करता। पूरे वाक्य का अर्थ 'संदेह की घटना घटित होती है' ऐसा समुच्चित रूप में लिया जा सकता है। जैसे वर्षा के संबंध में कर्ता और उसकी क्रिया ऐसा भेद नहीं किया जाता वैसे ही संदेह के संबंध में भी ऐसा भेद करने की आवश्यकता नहीं है। वर्षा की घटना और संदेह की घटना इनमें भेद इतना ही है कि एक बाह्य है और दूसरी आभ्यंतर। अन्यथा, वर्षा का घटित होना जितना नैसर्गिक है उतना ही संदेह का घटित होना भी नैसर्गिक माना जा सकता है। इसी कारण 'मैं' का प्रयोग किये बिना भी 'यह संदेह संभव है', 'यह बात संदिग्ध है' जैसे वाक्यों के द्वारा संदेह की घटना का वर्णन किया जाता है : 'मैं' के प्रयोग को एक लहजे के रूप में भी स्वीकार करने में कोई अनुपपत्ति नहीं होनी चाहिये।

विचार कर देखने पर एयर और रसेल दोनों के उपर्युक्त आक्षेप तर्क-संगत नहीं प्रतीत होते। एयर का कहना है कि चूंकि संदेह हमेशा घटित नहीं होता अतः संदेह की घटना निश्चयात्मक या अनिवार्य नहीं मानी जा सकती। यह कथन अतीव आश्चर्यकारक है। संदेह-घटना की प्रामाणिकता या निश्चयात्मकता अथवा अनिवार्यता उसकी सार्वकालिकता पर निर्भर नहीं करती। कालिक दृष्टि से उक्त संदेह आकस्मिक है किंतु तार्किक दृष्टि से उसे अनिवार्य ही मानना होगा। यह अनिवार्यता देकार्त के कथनानुसार इस बात पर निर्भर है कि वस्तुमात्र को संदेहास्पद मानने के लिये भी संदेह को निस्संदिग्ध रूप से सत् मानना आवश्यक है। दूसरे आक्षेप में 'संदेह' की घटना पर से आत्म सत्ता के निष्कर्षण पर आपत्ति उठायी गयी है। संदेह में आत्म का समावेश न होने से संदेह का घटित होना आत्म की सत्ता या असत्ता का अनुमापक नहीं हो सकता, ऐसा इस आपत्ति में अभिप्रेत है। किंतु क्या किसी संदेह की घटना का वर्णन संदेहकर्ता के निर्देश के बिना पूरा माना जायगा, या किसी बाह्य तथ्य के समान संदेह का अवैयक्तिक रूप में निर्देश उपयुक्त हो पायेगा? यह विचार कर देखना आवश्यक है। 'इस बात पर संदेह होता है', 'यह बात संदेहास्पद है' जैसे संदेह-विषयक कर्त्ता-रहित वाक्यों का प्रयोग भी निश्चय ही होता है किंतु इनमें संदेह-कर्ता का अध्याहार प्रसंगोपात्त होता ही है। जहां किसी संदेहकर्तृ व्यक्तिविशेष के अध्याहार के लिये कोई विनिगमक न हो वहां भिन्न-भिन्न अनेक व्यक्तियों के संदेह की संभावना भी अभिप्रेत होती है। 'मैं संदेह करता हूं' जैसे वाक्य-प्रयोग के संदर्भ में तो किसी भी हालत में वक्ता के अतिरिक्त किसी व्यक्ति के संदेह का निर्देश विवक्षित नहीं होता। एयर तथा रसल के विचारानुसार यदि 'मैं संदेह करता हूं' और 'संदेह

घटित होता है' ये दोनों वाक्य अन्यूनानतिरिक्तार्थक हों तो जिस प्रसंग में दो व्यक्तियों के उपस्थित होने पर एक के संदेहाकुल होते हुए भी दूसरा संदेहरहित हो वहां 'मैं संदेह करता हूं' इस वाक्य का प्रयोग दोनों व्यक्तियों के संदेह का निर्देशक होना आवश्यक हो जायेगा। यही नहीं, किसी भी व्यक्ति का संदेह किसी अन्य व्यक्ति में संक्रांत माना जा सकेगा। और जैसे घट, पट आदि बाह्य पदार्थों का निर्देश 'यह', 'वह' जैसे सर्वनामों द्वारा या सामान्य संज्ञाओं द्वारा, जिनका एक ही अर्थ में विभिन्न व्यक्ति प्रयोग करते हैं—हुआ करता है वैसे ही संदेह-घटना का भी निर्देश संभव होने लगेगा। किंतु वस्तुस्थिति यह है कि किसी भी संदेह का यथार्थ तथा परिपूर्ण वर्णन, या निर्देश भी, संदेहकर्त्ता के निर्देश के बिना संभव नहीं समझा जाता। अतएव 'मैं संदेह करता हूं,' 'वह संदेह करता है' जैसे आख्यातांत प्रयोग संदेह की एक-एक घटना के निर्देशार्थ किये जाते हैं। इन प्रयोगों में संदेह-क्रिया के कर्त्ता के रूप में व्यक्ति-विशेष का निर्देश तो होता ही है, साथ-साथ उस व्यक्ति-विशेष के द्वारा इस क्रिया के अपनाने की भी बात कर्तृपद और आख्यात के सामानाधिकरण्य के माध्यम से घोषित होती है। इसका मतलब यह है कि संदेह-क्रिया में उसके कर्त्ता के समाविष्ट हुए या उलझे बिना वह क्रिया ठीक तरह घटित हुई, ऐसा समझा ही नहीं जाता। वर्षा जैसी सार्वजनिक घटना का अनुभव वर्षा में भीगने वाले विभिन्न व्यक्तियों को एक-जैसा ही होगा। इस कारण 'अभी वर्षा हो रही है' ऐसा सामान्य प्रयोग वे सब एक ही अर्थ में कर सकते हैं। किंतु संदेह के संबंध में ऐसी बात यदि संभाव्य हो तो संदेह की संदेहता या प्रातिस्विकता ही समाप्त हो जायेगी। एयर तथा रसल संदेह की प्रातिस्विकता को ही समाप्त कर उसे सार्वजनिक घटना के स्तर पर लाने के लिये प्रयासशील हैं जो नितांत अनुपयुक्त है।

'मैं' का अर्थ एक अन्य तरीके से भी रसल ने विशद किया है जिसका विचार करना आवश्यक है। 'मैं' किसी आत्म जैसे द्रव्य का निर्देशक न होकर परस्पर कार्य-कारण भावापन्न या पूर्वापर भावापन्न मनोवृत्ति-संतान का निर्देशक पद है ऐसा रसल कहते हैं। इस विशदीकरण के अनुसार उक्त वाक्य के द्वारा एक संदेह विशेष के इस संतान के अन्तर्गत एक घटना होने की बात कही जाती है, ऐसा समझना होगा। तथाकथित व्यक्ति-भेद के अनुसार मनोवृत्ति-संतानें भी भिन्न-भिन्न होंगी। संतान-घटक मनोवृत्तियों में आनुपूर्वी प्रस्थापित करने वाले संबन्धों के भेद पर संतान-भेद निर्भर रहेगा। इस स्पष्टीकरण पर सर्वप्रथम यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि किसी मनोवृत्ति विशेष को इस या उस संतान में सम्मिलित हुआ बतलाने की आवश्यकता क्या हो सकती है? अधिक से अधिक इस प्रकार के कथन से यही बात स्पष्ट होगी कि एक संतानांतर्गत मनोवृत्ति-विशेष अन्य संतानान्तर्गत मनोवृत्तियों के साथ कार्यकारण भावापन्न नहीं है। इस विवरण से उस मनोवृत्ति के प्रत्यभिज्ञान में, या उसको विशेषित करने में सहायता हो सकती है। लेकिन 'मैं सन्देह करता हूं' ऐसे वाक्य-प्रयोग के संदर्भ में मेरे संदेह के प्रत्यभिज्ञान का प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरी चिंतनीय बात यह है कि 'मैं' पद तथा 'करता हूं' इस आख्यात क्रियापद का सामानाधिकरण्य इन दो पदों के अर्थों के अभेद का प्रतिपादन करता है, क्रिया-पद के अर्थ का कर्तृपद के अर्थ में अन्तर्भाव नहीं।

सन्देह को बाह्य घटनाओं जैसी ही एक घटना मानने में उक्त आपत्ति से कहीं अधिक गंभीर आपत्ति यह है कि किसी भी आत्म के द्वारा न अपनाये गये संदेह के घटित होने से किसी

भी संदेह-विषय-वस्तु की सत्ता संदेहास्पद नहीं हो पायेगी। संदेह एक मानसिक घटना के रूप में ग्रपने विषय के ग्राकार का ग्रहण सदसत् रूप में करेगा किन्तु 'संदेहन' रूप जो उसका विशिष्ट कार्य है उसे वह कदापि सम्पन्न नहीं कर सकेगा। संदेह में ही नहीं, ग्रन्य मनोवृत्तियों में भी जो उद्देश्य-वस्तु का किसी न किसी रूप में निर्धारण हुग्रा करता है, जिसके कारण विधि-निषेध तथा संदेह ग्रादि क्रियाएं सम्पन्न होती हैं, उसकी कर्तृता मनोवृत्तियों से (नितांत) भिन्न किसी वस्तु में ही विद्यमान मानी जा सकती है। इस कर्तृता का ग्रधिक स्पष्टीकरण ग्रागे किया जायेगा।

देकार्त के ग्रात्मसाधक ग्रनुमान में संदेह को एक मानसिक क्रिया के रूप में परिगृहीत किया गया है। इस क्रिया के लिए कर्त्ता की ग्रावश्यकता होने के कारण ग्रात्म को उसके कर्त्ता के रूप में ग्रनुमापित करने का देकार्त का प्रयास समझा जा सकता। इस मंतव्य पर भी रसल ने ग्राक्षेप किया है। उसका यह प्रतिवाद है कि 'मैं संदेह करता हूं' इस वाक्य के ग्रर्थ के विश्ले-षण में क्रिया को समाविष्ट ही नहीं किया जाय तो संदेह के कर्त्ता का ग्रनुमान ही नहीं हो पायेगा। ग्रधिक से ग्रधिक संदेह के ग्राधारभूत मन का ग्रौर उसकी विषय-वस्तु का ही सन्देह पर से ग्रनुमान तर्क-संगत होगा : संदेह ग्रादि वृत्तियों को कुछ दार्शनिक मन के तो कुछ ग्रन्य ग्रात्मा के गुण : क्रिया नहीं : मानते ही हैं। गुणों के लिए ग्राश्रय की ही ग्रावश्यकता होती है, कर्त्ता की नहीं। ग्रत: एक ग्रोर मन ग्रौर दूसरी ग्रोर विषय इन दो ही के ग्राधार पर संदेह के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

यह ग्राक्षेप भी सदोष है। संदेह जैसी मनोवृत्तियाँ ग्रपने-ग्राप से संकल्प-विकल्पात्मक रूप में वस्तु-स्वरूप-निर्धारण करने में ग्रसमर्थ हैं, यह बात ऊपर स्पष्ट की जा चुकी है। स्वयं संदेह के ही स्वरूप-निर्धारण का ग्रवसर उपस्थित हो तो क्या यह कार्य कोई मनोवृत्ति स्वयं कर सकेगी ? उदाहरणत: किसी निश्चयात्मक मनोवृत्ति को लक्ष्य कर 'मैं' शब्द का उसके लिए प्रयोग करते हुए 'मैं संदेह करता हूं' ऐसा यथार्थ वाक्य-प्रयोग करना क्या संभव है ? ऐसी संभा-वना उसी प्रकार की होगी जैसी दर्पण के सम्बन्ध में उसके द्वारा 'मैं पुर:स्थित वस्तु का बिंब ग्रहण करता हूं' ऐसे विधान की संभावना। कोई भी मनोवृत्ति एक नैसर्गिक घटना मात्र है। विधि-निषेधादि कार्य कर्त्तापेक्ष हैं। वे शुद्ध मनोवृत्ति के द्वारा संपादित नहीं किये जा सकते। रसल ने देकार्त पर ग्राक्षेप करते हुए यह बात भुला दी है कि 'संदेह' एक क्रिया होने के कारण ही कर्त्तापेक्ष है, ऐसी बात नहीं है। संदेह एक विशेष प्रकार की मानसिक ग्रभिवृत्ति है जो किसी चेतन कर्त्ता के शब्द-प्रयोग से या ग्रन्य प्रकार के व्यवहार से ही प्रकट हो सकती है। संदेह को एक मानसिक क्रिया न भी माना जाय तो भी उसके यथावत् प्रकटीकरण के लिए कर्त्ता की ग्रपेक्षा सदा बनी रहेगी।

ग्रधिक सही ढंग से यह बात इस प्रकार कही जा सकती है कि ग्रात्म के संदेहादि से ग्रभिभूत होकर तदाकारता प्राप्त करने पर ही इन मनोवृत्तियों को वास्तविक संदेहादि-रूपता प्राप्त होती है। इस कारण ग्रात्म के ही विविध (प्रासंगिक) ग्रानुभविक ग्राविष्कारों के रूप में संदेहादि को देखना उपयुक्त समझना चाहिये। साँख्य-योग दर्शनों में जड़ बुद्धि-गत विषय-प्रति-बिंब को विषयाध्यवसाय-रूपता प्राप्त होने के लिए बुद्धि में पुरुष-चैतन्य के प्रतिबिम्बित होने की

आवश्यकता जो प्रतिपादित की गई है उसका कारण यही तथ्य है कि आत्म के द्वारा आत्म-सात्करण के बिना किसी मनोवृत्ति को विधि-निषेधादि रूप प्राप्त नहीं होता।

आत्मसत्ता के विरोध में उपस्थित किये गये कुछ तर्कों का अबतक जो प्रतिवाद किया गया उसपर से यह धारणा बन सकती है कि देकार्तीय आत्मसाधक तर्क हमें मान्य हैं; किन्तु ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है। हमारे विचार में देकार्त का आत्मसाधन-प्रयास उतना ही सदोष है जितना उसके विरोधियों का अनात्मसाधन-प्रयास। 'मैं संदेह करता हूं, अतः मैं हूं' इस तथाकथित देकार्तीय तर्क या अनुमान का सहजगम्य दोष यह है यह तर्क अनुमान कहलाने योग्य ही नहीं है। 'संदेह' का निर्वचन 'मैं' घटित वाक्य से ही संभव है, 'सर्व विषयक संदेह घटित होता है' ऐसे या इस प्रकार के अवैयक्तिक वाक्य के द्वारा 'सर्व संदेह' की यथोचित अभिव्यक्ति संभव नहीं है। ऐसी परिस्थिति में संदेह की उत्पत्ति या उसकी अभिव्यक्ति के समय ही आत्म का संदेहघटक तत्त्व के रूप में ग्रहण हो जाना अनिवार्य है। अतः यदि 'अतः' शब्द के प्रयोग से देकार्त यह दर्शाना चाहता हो कि 'मैं हूं' यह एक आनुमानिक निष्कर्ष है जो 'मैं संदेह करता हूं' इस आधार वाक्य से प्राप्य है, तो प्रथम देकार्त को यह स्पष्ट करना चाहिये था कि आत्मकी अज्ञातता की स्थिति में उसने यह आधारवाक्य ही (स्वतःसिद्ध रूपमें) कैसे प्राप्त किया। संदेह का अभिज्ञान 'मैं संदेह करता हूं' इसी रूपमें सर्वदा होता हो तब या तो उसीमें आत्मज्ञान को गतार्थ मानना होगा या इस संश्लिष्ट अभिज्ञान से आत्मसत्ता के ज्ञान को अलगाने की प्रक्रिया को 'अनुमान' संज्ञा न देकर और कोई ('विश्लेषण' जैसी) संज्ञा देनी होगी। इस प्रत्याख्यान पर देर्कात की ओर से यह प्रतिवाद संभव है कि किसी भी व्यक्ति के लिए उसके स्वीय संदेह का आकलन ही निःसंदिग्ध हो सकता है, दूसरों के समान-विषयक तथा समानाकार भी संदेह उसके लिये उतने ही संदेहास्पद होंगे जितने बाह्य पदार्थ। स्वीय संदेह की (घटना) में निस्संदिग्धता की अनुभूति उसमें अस्पष्टतया आत्मीयता की प्रतीति समाविष्ट (या पूर्वोपस्थित) होने के कारण हुआ करती है। इस आत्मीयता की प्रतीति में से आत्मसत्ता की प्रतीति को स्पष्टतया अलग प्रस्तुत करना ही अनुमान का कार्य है। वस्तुस्थिति ऐसी ही हो तो अनुमान करने के पूर्व किसी व्यक्ति को अपने संशय का जो आकलन होगा उसकी शाब्दिक अभिव्यक्ति 'मैं संदेह करता हूं' इस वाक्य से करना उचित नहीं होगा। इस वाक्य के अंतर्गत 'मैं' और 'हूं' ये दोनों ही पद स्पष्टतया आत्मनिर्देशक हैं जबकि आनुमानिक प्रक्रिया समाप्त होने तक आत्म-सत्ता प्रस्थापित नहीं होती। 'मैं' का प्रयोग न करते हुए यदि किसी व्यक्ति को अपना वस्तुमात्र विषयक संदेह प्रकट करना हो तो वह 'सब कुछ संदिग्ध है', 'कोई भी (तथाकथित) तथ्य विश्वासार्ह नहीं है' ऐसे वाक्यों का प्रयोग कर अपना मंतव्य सिद्ध कर सकता है। इन वाक्यों में किसी को आधार वाक्य मानकर उसमें से आत्म-सत्ता का निष्कर्षण संभव नहीं होगा। इस निष्कर्षण के लिये उक्त वाक्यों के साथ व्यक्ति की आत्म-संदेह-सूचक चेष्टाओं का भी उपयोग करना होगा। किसी तरह आत्मसत्ता के प्रस्थापनार्थ शारीरिक चेष्टा विशेष को भी अनुमान-प्रक्रिया में समाविष्ट करें तो यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि उक्त सर्वविषयक संदेह वास्तविक (नैसर्गिक) होगा या आहार्य? सर्वसंदेह को वास्तविक समझना बड़ा कठिन है। कोई भी मनुष्य किसी भी चैतनिक अवस्था में सर्वसंदेहवाद को (मन से) अपनाने की स्थिति

में नहीं होता। यदि सर्व संदेह आहार्य, (कृत्रिम या आभिमानिक) माना जाय तो उसमें स्पष्टतया आत्म का संदेहकर्ता के रूपमें समावेश अनिवार्य है।

संदेह-प्रक्रिया आत्म की अनुमापक न होना यही एक उपर्युक्त दोष देकार्त के आत्म-साधन में नहीं है। इससे कहीं अधिक गंभीर दोष उसमें यह भी है कि उक्त वाक्य संदेह-व्यंजक न होकर संदेह के अभिज्ञान या अनुव्यवसाय का व्यंजक (अथवा वाचक) है। देकार्त के लिए आत्म की सत्ता जितनी प्रमाणीकरणीय है उतनी ही या उससे भी अधिक संदेह के अभिज्ञान की सत्ता प्रमाणीकरणीय है। तर्कत: यह आवश्यक नहीं कि संदेह घटित होने पर उसका अनुव्यवसाय घटित हो ही। संदेह स्वयं अज्ञात रहकर भी अपना (अपने विषयों को संदिग्ध बनाने का) कार्य यथावत् संपन्न कर ही सकता है। ज्ञात संदेह ही संदेह का कार्य करता है, ऐसा माना जाय तो संदेह का ज्ञान भी संदेह का आकलन स्वयं ज्ञात होकर ही कर सकेगा। इस तरह संदेह का ज्ञान, इस ज्ञान का ज्ञान, ऐसी ज्ञानपरंपरा कहीं समाप्त नहीं हो पायेगी। सर्वसंदेहवाद का बुद्ध्या पुरस्कार (या समर्थन) करने वाला देकार्त संदेह की अनिवार्य सत्ता को स्वीकार करने के लिए बाध्य होते हुए भी संदेह के अभिज्ञान की सत्ता को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं है। संदेह स्वयं (पूर्णतया ? या) संदेह के रूप में अज्ञात रहे तो उसके 'संदेह' होने के संबंध में संदेह उठ सकता है या उठाया जा सकता है। संदेह विषयक द्वितीय संदेह के संबंध में भी संदेह असंभव नहीं है। यह संदेह-परंपरा समाप्त होगी या नहीं और यदि वह समाप्त हो तो किस संदेह तक पहुँच कर वह समाप्त होगी यह प्रश्न यहां उठाया जा सकता है, किंतु यह कोई तार्किक प्रश्न नहीं है। इस प्रश्न का समाधान प्रश्नकर्ता की मानसिक स्थिति पर निर्भर करता है। अतः संदेह का अभिभान संदेह-ग्रस्त होने से अस्वीकार कर दिया जाय तो देकार्त अपने सर्व संदेह की अभिव्यक्ति 'मैं संदेह करता हूं' इस वाक्य से नहीं कर सकता। अधिक से अधिक वह संदेह-व्यंजक चेष्टाएं (जैसे भृकुटियों को उठाना और कुछ अन्य प्रकार के हाव-भाव करना) करके उनके द्वारा ही अपनी संशयाकुलता प्रकट कर सकेगा, किंतु ऐसी स्थिति में किसी आधार वाक्य के न रहते कोई भी आनुमानिक निष्कर्ष निकालना संभव नहीं है। एयर, रसेल आदि को देकार्त के प्रतिवाद में वास्तव में यही बात कहनी चाहिये थी कि सर्वसंदेहवाद का पुरस्कर्ता संदेह का वर्णन-परक वाक्य प्रयोग में ला ही नहीं सकता। एतदर्थ उसे संशय की घटना का निश्चयात्मक ज्ञान होना अपेक्षित है जो प्रस्तुत प्रसंग में संभाव्य नहीं है। यदि इस निश्चयात्मक ज्ञान को घटित हुआ मान लिया जाय तो उसमें समाविष्ट आत्म के ज्ञान को भी घटित मानना आवश्यक ही होगा। तब अनुमानतः आत्म-साधन-प्रयास पुनरुक्तिरूप ही समझना पड़ेगा।

इस प्रकार देकार्तीय तरीके से आत्म-साधन संभव नहीं, यह बात स्पष्ट हो जाती है। सर्वसंदेह की संभावना पर से आत्म का अनुमान संभव नहीं है, तथापि आत्म-विषयक संदेह की असंभाव्यता पर से आत्मसत्ता प्रमाणित करना संभव है, यह बात शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य के प्रारम्भ में प्रतिपादित की है। वे कहते हैं—"न हि जातु कश्चित् संदिग्धः अहं वा नाऽहं वेति, न च नाऽहमेवेति प्रत्येतिः" कोई (अज्ञ व्यक्ति) भी 'मैं हूं या नहीं' ऐसा संदेह नहीं कर पाता, न ही 'मैं हूं ही नहीं' ऐसा आत्मबाधक निश्चय ही कर पाता है। विक्षिप्तता की

स्थिति मे भी मनुष्य अपना नाम आदि भले ही भुला दे अपनी सत्ता को (जिसका वह वर्णन करने में भी असमर्थ हो) वह कदापि भुला नहीं सकता।" 'मैं हूं या नहीं?' ऐसा संदेह वस्तुतः ही नहीं तर्कत भी असंभव है, क्योंकि इस तथाकथित संदेह की दो कोटियों—'हूं' तथा 'नहीं'—को प्रस्तुत करने के लिए भी आत्म-सत्ता का पूर्वाभ्युपगम अपेक्षित है। वास्तव में आत्म-सत्ता की चेतना के लिये 'पूर्वाभ्युपगम' शब्द का प्रयोग उचित नहीं है। इस प्रयोग से यह सूचित होता है कि आत्म-सत्ता तार्किक या ज्ञानमीमांसीय रूप से ही आत्म (या अन्य) संबंधी संशयादि के लिये पूर्वापेक्षित है। ऐसा कह सकते हैं कि आत्म-चेतना एक मानसिक परिप्रेक्ष्य है जिसके संदर्भ में ही उक्त संशयादि के संभावना-असंभावना का विचार किया जा सकता है।

एक बात यहाँ स्पष्टीकरणीय है, कि देकार्त ने संदेह जैसी मनोवृत्तियों की अनिवार्यता के आधार पर उन (मनोवृत्तियों) में (प्रायः सदैव) उलझे रहने वाले आत्म की सत्ता प्रस्थापित करने की चेष्टा की। इस पर से स्पष्ट हो जाता है कि देकार्त के विचार में वृत्त्युपहित चेतना ही आत्मचेतना है, पूर्णतया वृत्ति-रहित आत्मचेतना की संभवतः देकार्त कल्पना ही नहीं कर पाता। ठीक इसके विपरीत आचार्य शंकर आत्म चेतना को यदा-कदा वृत्त्युपहित होती मानकर भी उसकी वास्तविकता को पूर्णतया वृत्ति-रहित ही समझते हैं। इस कारण 'मैं हूं' के द्वारा चेतना के जिस रूप का निर्देश या संकेत अभिप्रेत है वह अवृत्तिक ही समझना चाहिये। वृत्त्युपहित चेतना 'मैं' पद का निर्देश्य हो तो उसका निषेध या उसकी सत्ता के प्रति संदेह व्यक्त करना संभव है। (वैसे ही जैसे संपूर्ण जगत् के विषय में देकार्त ने संदेह व्यक्त किया है)। यहां प्रश्न हो सकता है कि यदि कोई 'मैं नहीं' ऐसा आत्म-निषेधक कथन नहीं करता तो 'मैं हूं' ऐसा आत्म-समर्थक कथन भी नहीं करता। विशेष प्रसंग में ऐसा कथन जब किया जाता है तब उसका अभिप्राय आत्म-सत्ता का समर्थन न होकर अन्य-तादात्म्य-निषेध जैसा ही कुछ होता है। मनीषियों के द्वारा अपने ही पैरों पर कुठाराघात करने जैसी इस अनादि काल से चली आयी दुर्दम्य दार्शनिक प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हुए कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य लिखते हैं— "नैतिक अभ्युपगम की प्रस्थापना आखिर की ही क्यों जाती है?..............मेरे विचार में इसकी प्रस्थापना ऐसे सत्य के रूप में की जाती है जो यद्यपि विचारागम्य है किन्तु तब भी मनन के योग्य है।"

इस स्पष्टीकरण पर से आत्मचेतना की वास्तविक अवृत्तिकता और साथ ही सभी चेतनावृत्तियों में उसकी अनिवार्यतया अभिव्यक्ति (वह चाहे अस्पष्ट ही क्यों न हो) इन दो परस्पर विरुद्ध लगने वाले तथ्यों में सामंजस्य प्रस्थापित करने का मार्ग विशद हो जाता है। दर्शन में शब्दों के माध्यम से शब्दातीत का ग्रहण यदि संभव न हो तो संकेतन करने का प्रयास किया जाता है जिसके फलस्वरूप सवितर्क विचार की स्वाभाविक स्थिति से उठकर निर्वितर्क अनुध्यान की ओर चित्त अग्रसर हो।

प्रोफेसर्ज़ कोलोनी, हनुमान नगर,
नागपुर

5

सांख्य पर शंकर के आक्षेपों का सांख्यीय समाधान*

प्रमलता शर्मा

आचार्य शंकर ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में सांख्य-दर्शन की पर्याप्त विस्तार से आलोचना की है। यह आलोचना उसने निम्न चार स्थलों पर की है :

अध्याय 1, पाद 1, सूत्र 5–11 और 18
अध्याय 1, पाद 4, सूत्र 1–18
अध्याय 2, पाद 1, सूत्र 1–11
अध्याय 2, पाद 2, सूत्र 1–10

इस आलोचना का अवसर वास्तव में स्वयं ब्रह्मसूत्रकार बादरायण ने ही प्रस्तुत किया है किन्तु इस अवसर का प्रयोग कितना और किस प्रकार करना है, यह भाष्यकार पर निर्भर करता था। शंकर ने इस आलोचना को अधिकतम महत्त्व दिया है। यों उसने न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और विभिन्न बौद्ध सम्प्रदायों की भी आलोचना की है, किन्तु उनकी आलोचना को वैसा महत्त्व नहीं दिया है, क्योंकि उसके अनुसार "यह शास्त्र महाजनों से परिगृहीत है, और तत्त्वज्ञान-निरूपण के बहाने से प्रवृत्त हुए उसको प्राप्त कुछ मंदमतियों की अपेक्षा हो सकती है कि वह भी तत्त्व के लिए उपादेय है।"[1] दूसरे, "उस पक्ष के पोषक कुछ लिंगाभास वेदान्तों में आपाततः प्रतीत होते हैं, वह पक्ष कारण-कार्य का अभेद स्वीकार करने से वेदान्त के अति

* प्रस्तुत लेख मेरे शोध-ग्रंथ "सांख्य दर्शन में मनुष्य की अवधारणा" का एक अध्याय है।

1. ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य : सत्यानन्द सरस्वती कृत हिन्दी अनुवाद और व्याख्या, गोविन्द मठ, टेढ़ी नीम, वाराणसी, संवत् 2035, 2.1.1, पृ० 311 (यहां सब उद्धरण इसी पुस्तक में से दिये गये हैं और सूत्रादि की संख्या के साथ पृष्ठ संख्या भी दी गई है। भाषा में कहीं-कहीं सुधार किया कया है।)

निकटवर्ती है, और देवलादि कुछ धर्मसूत्रकारों ने अपने ग्रंथों में उसको आश्रय दिया है । इससे उसके प्रतिषेध में अत्यन्त यत्न किया गया है ।"[2]

आलोचना के इन चार में से पहले तीन स्थलों में आलोचना का आधार सांख्य की श्रुति-विरुद्धता दिखाना है । ऐसा दिखाने के दो कारण हैं; एक तो यह कि, शंकर के अनुसार सांख्य के समर्थक अपने सिद्धान्तों को श्रुति से समर्थित कहते हैं, और दूसरे यह कि, शंकर के अनुसार पारमार्थिक सत्यों का उद्घाटन केवल श्रुति से ही उपलब्ध हो सकता है, अनुभव और तर्क से नहीं । किन्तु द्रष्टव्य है कि स्वयं सांख्यकारिका ने, जिसे संभवतः शंकर ने अपनी आलोचना का आधार बनाया है, पर-तत्त्वों के ज्ञान के लिए श्रुति को प्रमाण नहीं माना है ।[3] आप्त वचन को सांख्य ने केवल देवी-देवताओं आदि के लिए ही प्रमाण माना है, जो सांख्य के अनुसार, ऐन्द्रिक अनुभव, विवेक और तर्क तीनों के अविषय हैं ।[4] ऐसी अवस्था में शंकर द्वारा श्रुति के आधार पर सांख्य को अप्रतिष्ठित दिखाने का क्या औचित्य हो सकता है ? किन्तु तब भी शंकर ने आलोचना का तीन चौथाई से भी अधिक स्थान सांख्य की श्रुति-विरुद्धता दिखाने को ही दिया है । स्वयं शंकर ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि सांख्य श्रुति को पारमार्थिक प्रसंगों में प्रमाण नहीं मानता, जोकि इससे स्पष्ट है कि उसने सांख्य को तर्कवादी कहा है और पूर्वपक्ष के रूप में सांख्य का मत प्रस्तुत किया है कि वह तर्क को श्रुति से स्वतंत्र प्रमाण मानता है ।[5] तब भी शंकर द्वारा सांख्य की श्रुति-विरुद्धता को इतना महत्त्व देने का कारण संभवतः यह है कि स्वयं श्रुति के बहुत से ग्रंथों में सांख्य का समर्थन दृष्टिगोचर होता है और गीता तो स्पष्टतः उसकी अनुसारिणी प्रतीत होती है । और श्रुति तथा स्मृति को शंकर, तथा जन-सामान्य भी, जिसे शंकर अपनी बात मनवाना चाहता है, परमार्थज्ञान का एकमात्र साधन मानते हैं । किन्तु क्योंकि सांख्य श्रुति को परमार्थ-ज्ञान में प्रमाण स्वीकार नहीं करता, बल्कि उसे इस कारण अशुचि भी मानता है कि उसमें पशु-बलि आदि कर्मों का विधान हैं,[6] इसलिए वह शंकर की उन सब युक्तियों को, जो उसने सांख्य की श्रुति-विरुद्धता दिखाने के लिए दी हैं, अप्रासंगिक कहकर तिरस्कृत कर सकता है ।

किन्तु इसमें शंकर का औचित्य यह है कि वह तर्क को स्वतंत्र प्रमाण मानने से इन्कार करता है और इसके लिए वह सांख्य को पूर्वपक्ष में प्रस्तुत कर उसकी युक्तियों का खंडन तथा श्रुति-प्रमाण का मंडन करता है । इसलिए सांख्य की ओर से शंकर के इस आक्षेप का

2. वही, 1.4.28. पृ० 333
3. अतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्, का. 6(अतीन्द्रिय विषयों : पुरुष और प्रधान: की प्रतीति अनुमान से होती है ।) मैं समझती हूं कि इसमें इन्द्रिय–पर्यन्त विकारों को भी सम्मिलित करना चाहिए क्योंकि इन्द्रियां और उनके कारण-भूत लिंग (बुद्धि, अंत:करण) इन्द्रिय-विषय नहीं हैं ।
4. तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात्सिद्धम् । तर्क से भी असिद्ध विषय परोक्ष हैं और ये आगम-प्रमाणमूलक हैं । वही । (आगे 7वीं 8वीं कारिकाएं भी द्रष्टव्य ।)
5. 2.1.6, पृ० 360.
6. दृष्टवदानुश्रविक:, स ह्यविशुद्धिक्षयातिशय युक्त:, का० 2 (यद्यपि यहां प्रसंग प्रमाणों का नहीं होकर दु:ख-निवारण के उपायों का है, किन्तु इससे यह आपादित होता है । क्योंकि यदि श्रौत उपाय दु:ख-निवारण में सहायक नहीं हैं तो श्रौत उपदेश परमार्थ-ज्ञान (विवेक) में भी सहायक नहीं हो सकता ।

उत्तर देना अनिवार्य हो जाता है कि जिन विषयों में श्रुति ही युक्त प्रमाण हो सकती है उनमें वह उसे क्यों प्रमाण नहीं मानता ? वास्तव में स्वयं शंकर ने ही सांख्य की ओर से यह उत्तर प्रस्तुत किया है। उत्तर यह है कि "किसी युक्ति का दोष भी आखिर युक्ति से ही प्रकट किया जा सकता है।" इस प्रकार सांख्य के अनुसार, किसी युक्ति का अप्रतिष्ठित होना युक्तिमात्र का दोष नहीं है, यह तो तर्क की आत्म-दोष के दर्शन द्वारा उसके (आत्म-दोष के) निवारण की सामर्थ्य को ही प्रकट करता है। शंकर के शब्दों में, "अयमेव तर्कस्यालंकारो यदप्रतिष्ठितत्वं नाम। एवंहि सावद्य तर्क परित्यागेननवद्यस्तर्कः प्रतिपत्तव्यो भवति।"[7] इस उत्तर पर शंकर का प्रत्युत्तर है कि, "यदि ऐसा कहो कि तर्क की अप्रतिष्ठा दोष नहीं है, तो ऐसा मानने पर भी तर्क दोष-मुक्त नहीं हो सकता। यद्यपि किसी विषय में तर्क की प्रतिष्ठा उपलक्षित हो सकती है, तो भी प्रकृत विषय में तर्क अप्रतिष्ठितत्त्व दोष से मुक्त नहीं हो सकता। इस अति गंभीर, भाव-याथात्म्य (सत्स्वरूप) मुक्ति के हेतु (ब्रह्म) का ज्ञान तो आगम के बिना हो ही नहीं सकता।"[8] किन्तु तब शंकर से प्रश्न हो सकता है कि ऐसा क्यों ? इस पर शंकर के दो उत्तर हैं : एक तो यह कि "केवल पुरुष-कल्पनामूलक तर्क प्रतिष्ठित नहीं होते, क्योंकि कल्पना निरंकुश होती है।" दूसरा उत्तर है कि "यह पदार्थ (ब्रह्म) रूपादि रहित होने से प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं हो सकता और लिंग आदि का अभाव होने से अनुमान आदि का विषय भी नहीं हो सकता।"[9] दूसरे शब्दों में, तर्क का विषय केवल अनुभव-मूलक व्याप्ति ही हो सकती है, प्रत्यक्षागम्य वस्तु नहीं हो सकती। दुर्भाग्यवश सांख्य भी ऐसा ही मानता है, जैसाकि उसके 'तर्क' के लिए 'अनुमान' शब्द के प्रयोग से, और प्रकृति तथा पुरुष को सामान्यतोदृष्ट अनुमान के आधार पर प्रमाणित कहने से स्पष्ट है। किन्तु शंकर आगमानुसारी तर्क को, अर्थात् विभिन्न आगम-ग्रंथों के कथनों में प्रकट विरोध होने पर उस विरोध-परिहार को, और स्मृतियों की आगमानुकूलता-प्रतिकूलता के विनिश्चय को भी तर्क का कार्य मानता है। इसी प्रकार सांख्य भी संसार के हेतु का और अविवेक के स्वरूप का निर्णय तर्क से करता है। अब, ये दोनों निर्णय ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष-मूलक अनुमान के आधार पर नहीं किये जा सकते।

किन्तु शंकर की स्थिति और भी अधिक आपत्तिजनक है : यदि ब्रह्म और मोक्ष केवल आगम-प्रत्यक्षगम्य हैं तब वे हमारे लिए केवल शब्द मात्र हैं, जिसका अर्थ हम नहीं समझ सकते। क्योंकि आगम :श्रुतिः हमारे लिए केवल शब्द है जिसका अर्थ, अर्थात् वाच्य-वस्तु, हमारे लिए अनुभवगम्य या तर्क-गम्य नहीं है। यदि वह अनुभव का विषय हो : चाहे फिर वह अनुभव अलौकिक ही क्यों न हो : तो उसके लिए आगम को प्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि तब प्रमाण अनुभव होगा। कहा जा सकता है कि हम बहुत सी बातों को आगम (विश्वसनीय लोगों के कथनों, अथवा विश्वसनीय परंपरा) के आधार पर स्वीकार करते हैं, जैसे महाराजा अशोक की कलिंग-विजय और उससे उत्पन्न उसके निर्वेद की बात को, तब क्या वह सब भी अप्रामाणिक नहीं हो जायेगा? इसका उत्तर होगा कि, इनकी प्रामाणिकता के दो पक्ष हैं :

7. 2.1.11, पृ० 356-57.
8. वही। कोष्ठक के शब्द हमारे द्वारा।
9. वही।

एक अशोक, कलिंग-विजय और निर्वेद के हुए होने की सम्भावना, और दूसरा, उनका वास्तव में हुए होना। इनमें प्रथम अतीत अशोक के वर्तमान मनुष्यों के समान होने, कलिंग-विजय के भारत द्वारा पूर्वी पाकिस्तान-विजय के समान होने, और निर्वेद के हमारे द्वारा अनेक अवसरों पर अनुभूत भावना के समान होने के आधार पर ज्ञान-प्रद और प्रामाणिक होने की सम्भावना से युक्त है। तभी वह प्रामाणिक या अप्रामाणिक भी हो सकता है। किन्तु ब्रह्मानुभव या मोक्षानुभव के अन्तःकरण आदि उपाधियों से अगम्य होने और हमारे अनिवार्यतः इन उपाधियों से उपहित होने से हमारे लिए यह अनुभव यदि अगम्य है तब वह उपर्युक्त उपमा से आगम के आधार पर भी गम्य नहीं हो सकता, और अनुभव के आधार के बिना हम यह भी कैसे कह सकते हैं कि कौन वचन आप्त है और कौन नहीं : उपनिषद् आप्त हैं अथवा चार्वाक-वचन ? यहाँ कहा जा सकता है कि अन्तःकरण आदि उपाधियों के रहते हुए भी हमारे स्वरूपतः ब्रह्म होने के कारण हमें उस निरुपाधिक स्थिति का आभास होता है और आगम उस आभास को और स्पष्ट करने में सहायक होता है। चार्वाक आदि के वचन हमें अनुभूत उन अतिक्रामी संकेतों के अनुकूल नहीं होने से वे आप्त या श्रुति नहीं हैं।

किन्तु यह तर्क-प्रणाली शंकर को स्वीकार होगी, यह कहना कठिन है, क्योंकि शंकर श्रुति को इस प्रकार अपने अनुभव के अधीन और इस प्रकार गौण बनाना स्वीकार नहीं करेंगे। किन्तु तब कठिनाई है कि, श्रुति-वचनों का अर्थ क्या है यह भी स्वत स्पष्ट नहीं है, वास्तव में तो उनका अर्थ कुछ है भी, यह भी हम नहीं जान सकते। किन्तु यदि किसी प्रकार यह मान भी लें कि श्रुति-वचनों को हम समझ सकते हैं, तो भी वे स्वतःस्पष्ट नहीं हैं, उनके अर्थ प्रयत्न-साध्य हैं और यह प्रयत्न तर्क ही हो सकता है। अवश्य प्रयत्न का एक और रूप भी है जो हम औपनिषद् श्वेतकेतु में 'तत्त्वमसि' के मंत्र के ग्रहण की सामर्थ्य के रूप में देखते हैं, किन्तु वह प्रयत्न 'दार्शनिक' नहीं है और न श्वेतकेतु द्वारा साक्षात्कृत 'तत्त्वमसि' मंत्र का ज्ञान श्रुतिमूलक ही है। वह तो आत्मा से आत्मा में आलोक-संप्रेषण है। शंकर श्रुति-प्रमाण को ऐसे शब्द के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं जिसका अर्थ विमर्श द्वारा निर्णेय है और वह निर्णय अंततः तर्क का अपेक्षी होता है। शंकर भी तर्क को स्वीकार करने को तैयार हैं, किन्तु श्रुति के अधीन रूप में ही। किन्तु तर्क श्रुति के अधीन कैसे हो सकता है, यदि श्रुति के अर्थ का निर्णय तर्क से ही सम्भव हो तो ? किन्तु शंकर के अनुसार निरपेक्ष तर्क काल्पनिक है, क्योंकि "कुछ विद्वानों से यत्नपूर्वक कल्पित तर्क अन्य विद्वानों द्वारा आभास से दिखाये जाते हैं, उनसे भी कल्पित हुए तर्क उनसे अन्य विशिष्ट विद्वानों द्वारा आभास से किये जाते हैं। इस कारण तर्कों की प्रतिष्ठा कदापि ग्रहण नहीं की जा सकती।....... सम्यग्ज्ञान एकरूप है, क्योंकि वस्तु के अधीन है। सदा एक से रहने वाला जो पदार्थ है वही यथार्थ है। लोक में उस विषयक ज्ञान को ही सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। जैसे, 'अग्नि उष्ण है' (इस ज्ञान में कोई मत-विभिन्नता नहीं हो सकती।)" किन्तु यहां कठिनाई यह है कि जिस प्रकार "अग्नि की उष्णता प्रत्यक्षगम्य है और इसका वाचक वाक्य सरलतया अर्थ-बोधक है उस प्रकार श्रुति-वाक्य नहीं हैं। दूसरे, 'अग्नि उष्ण है' इसका वाच्यार्थ हम अग्नि-पदार्थ के स्पर्श के अनन्तर ही जानते हैं, यह वाक्य इसके पहले अर्थ-ज्ञापक नहीं होता, इसके विपरीत शंकर यहां श्रुति-वाक्यों को स्वतंत्र रूप से ही अर्थ-प्रापक कह रहे हैं। इस प्रकार शंकर की यह उपमा ही भ्रामक है।

इस प्रकार श्रुति को स्वतंत्र प्रमाण मानने की कठिनाई देखने के बाद यहां हम संक्षेप में शंकर ग्रौर सांख्य के तर्क-विषयक सिद्धान्त के सम्बन्ध में कुछ कहना चाहेंगे। हमारे विचार में तर्क के सम्बन्ध में इन दोनों के विचार, जो कि समान हैं, ग्रत्यन्त संकुचित हैं। यह द्रष्टव्य है कि 'ग्रनुभव' के बजाय इन दोनों दर्शनों ने 'दृष्ट' शब्द का प्रयोग किया है, जिसका ग्रर्थ है ऐन्द्रिक ग्रनुभव। इस प्रकार इनके ग्रनुसार तर्क का कार्य ग्रतीत ऐन्द्रिक ग्रनुभव के ग्राधार पर ग्रनागत ऐन्द्रिक ग्रनुभव के सम्बन्ध में निष्कर्ष देना ही है। किन्तु जैसाकि कांट ने दिखाया, ग्रौर जैसा कि थोड़ा गहराई से देखने पर हम जान सकते हैं, ऐन्द्रिक ग्रनुभव के क्षेत्र में भी विचार ग्रनुभव से स्वतंत्र व्यापारित होता है : इसे कांट ने साईंथेटिक ए प्रायराई (संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक) कहा है। बौद्धों ने इसे विकल्प कहा है। ग्रवश्य ये दोनों इस ज्ञान या तर्क-व्यापार को सत्ता-विषयक नहीं कहते हैं, किन्तु कांट में यह बौद्धों के समान सत् ग्रौर ज्ञान के बीच व्यवधान का वाचक भी नहीं है। इसके ग्रतिरिक्त, कांट तर्क का स्थान नैतिक ग्रौर कलात्मक बोधों (मॉरल एण्ड एस्थेटिक एक्सपीरियेंसिस) में भी देखता है। किन्तु सौभाग्यवश सांख्य भी ग्रपने विचार को ग्रपनी परिभाषा से सीमित नहीं करता, जैसाकि शंकर बहुत सीमा तक करता है। उदाहरणतः सांख्य की दुःख से निवृत्ति की हेतुभूत दृष्टि ऐन्द्रिय ग्रनुभव ग्रौर तत्परक ग्रनुमान की सीमाग्रों से बाहर है, इसी प्रकार प्रधान ग्रौर पुरुष भी व्याप्तिमूलक ग्रनुमानगम्य नहीं होकर ग्रतिक्रामी दृष्टिगम्य हैं जो दृष्टि ग्रतीन्द्रिय विचारात्मक है। यहां कांट की प्रणाली द्रष्टव्य है, जो ग्रनुभवमूलक ग्रनुमान के ग्रपनी ही सीमाग्रों के दर्शन द्वारा ग्रपने ग्रतिक्रमण का मार्ग प्रशस्त करती है। सांख्य में भी जगत्-मूलक ग्रनुभव को इसी प्रकार ग्रात्म-ग्रतिक्रमणशील देखा जा सकता था। किन्तु सांख्य यह ग्रतिक्रमण सीधे मूल्य-दृष्टि में पौरुषिक ग्रात्मसाक्षात्कार द्वारा देखता है। किन्तु दुर्भाग्यवश सांख्याचार्यों ने इस प्रकार विचार नहीं किया।

जो भी हो, सांख्य परमार्थ-विचार में श्रुति को प्रमाणरूपेण नहीं देखता। ऐसी ग्रवस्था में शंकर द्वारा श्रुति के ग्राधार पर की गई उसकी ग्रालोचना का कोई ग्रर्थ नहीं रह जाता। किन्तु यहाँ यह कहना ग्रस्थाने नहीं होगा कि जबकि उपनिषद् मुख्यतः ग्रद्वैतवादी-ब्रह्मकारण-वादी ही हैं, उनमें पूर्ण एकवाक्यता नहीं है। स्मृतियों में गीता, जोकि स्वयं शंकर द्वारा भी प्रमाणरूपेण स्वीकृत है : स्पष्टतः सेश्वर सांख्यवादी है। शंकर द्वारा सब उपनिषदों में ग्रौर गीता में एकवाक्यता दिखाना इस बात का द्योतक है कि वह ग्रपने मत को श्रुति पर ग्रौर ग्रत्यधिक सम्मानित स्मृतियों पर ग्रारोपित करने में किसी भी सीमा तक जाने को तैयार है। किन्तु यहां हम इस विवाद में नहीं पड़ना चाहेंगे। हमारे विचार का विषय यहां केवल शंकर द्वारा सांख्य की ग्रालोचना में दी गई युक्तियां हैं। इन युक्तियों की यहां हम भीतरी ग्रौर बाहरी दो पक्षों से परीक्षा करने का प्रयत्न करेंगे। भीतरी पक्ष से हमारा ग्रभिप्राय है युक्ति की ग्रपनी संरचना ग्रौर वस्तु का पक्ष, ग्रौर बाहरी पक्ष से ग्रभिप्राय है सांख्य-दृष्टि का पक्ष। शंकर ने सांख्य के विरुद्ध ग्राठ ग्रापत्तियां उठायी हैं जो निम्न प्रकार हैं :

1. शंकर की पहली ग्रापत्ति है कि, सांख्य जगत् की भौतिक ग्रौर ग्राध्यात्मिक सब स्थितियों को ग्रचेतन प्रधान रूप कारण का कार्य मानता है। किन्तु "लोक में चेतन से ग्रनधिष्ठित

अचेतन स्वतंत्र रूप से पुरुषार्थ के सम्पादन करने में समर्थ विकारों की रचना करता हुआ नहीं देखा जाता। लोक में गृह, शयन, आसन, विहार आदि समय के अनुसार बुद्धिमान् शिल्पियों द्वारा सुख-प्राप्ति और दुःख-परिहार के योग्य रचे जाते हैं। ....तब जिसकी आलोचना बड़े-बड़े बुद्धिमान शिल्पियों द्वारा मन से भी नहीं की जा सकती उसकी रचना अचेतन प्रधान कैसे कर सकता है? क्योंकि अचेतन लोष्ठ, पाषाण आदि में यह रचना-धर्मिता नहीं देखी जा सकती। इस कारण इस प्रधान को भी अन्य चेतन से अधिष्ठित मानना पड़ेगा।" (2.2.1, पृ० 402) और पुनः,

2. "बाह्य और आध्यात्मिक विकारों का सुख-दुःख-मोहात्मकता के साथ अन्वय उपपन्न नहीं होता, क्योंकि सुखादि आंतरिक प्रतीत होते हैं और शब्दादि बाह्य प्रतीत होते हैं और शब्दादि के निमित्त रूप से प्रतीत होते हैं।" (2.2.1, पृ० 402)

3. जो सांख्य जगत् के वैविध्य को कार्यरूप देखकर उसके एक कारण के रूप में प्रधान की कल्पना को तर्कसम्मत मानता है, वह भी, शंकर के अनुसार, अयुक्त है, क्योंकि तब "सत्त्व, रजस् और तमस् भी संसर्ग-पूर्वक मानने पड़ेंगे, क्योंकि सत्त्व, रजस् और तमस् में भी परिमितता उसी प्रकार है।" अर्थात् जिस प्रकार "मूलांकुरादि में परिमितत्त्व होने से उनमें कार्यत्व की कल्पना है और उससे कारण के रूप में प्रधान की कल्पना है, उसी प्रकार सत्त्व, रजस् और तमस् के भी परस्पर परिमित होने से और प्रधान के त्रैगुण्यात्मक होने से, प्रधान को भी कार्य मानना पड़ेगा और उसके कारण की कल्पना अनिवार्य होगी। (2.2.1, पृ० 402–3)

4. कार्य-कारणभाव कारण को अचेतन मानने को अनिवार्य नहीं करता, क्योंकि "प्रज्ञा (बुद्धि) पूर्वक निर्मित शयन, आसन आदि का कार्य-कारण-भाव देखा जाता है, इसलिए कारण-कार्य-भाव होने से बाह्य और आध्यात्मिक विकारों में अचेतन पूर्वकत्व की कल्पना नहीं की जा सकती। (2.2.2. पृ. 503)

5. सांख्य के अनुसार प्रधान त्रिगुण की साम्यावस्था है। इसमें विक्षोभ होने पर इनमें वैषम्य :अंगांगिभावः उत्पन्न होता है। सांख्य इसे स्वतः मानता है, किन्तु शंकर के अनुसार, "मृत्तिका आदि और रथ आदि स्वयं अचेतन होते हुए भी चेतन कुलाल आदि अथवा अश्व आदि से अधिष्ठित हुए बिना कार्य में प्रवृत्ति वाले नहीं देखे जाते। .... यदि पूर्व पक्ष की यह आपत्ति हो कि वेदान्त भी "देहादि से संयुक्त आत्मा को विज्ञान-स्वरूप मात्र मानता है और परिणामतः उसमें भी प्रवृत्ति की अनुपपत्ति है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि अयस्कान्त मणि (लौह-चुम्बक) और रूपादि के समान प्रवृत्ति-रहित वस्तु में भी प्रवर्तकत्त्व हो सकता है।" (2.2.2, 403-5)

6. यदि यह मान भी लें कि प्रवृत्ति निमित्त के बिना प्रयोजन से ही सम्भव है, तो प्रश्न है कि प्रयोजन क्या है? आप प्रयोजन पुरुष को भोग प्रस्तुत करना और मोक्ष देना यह कहते हैं। तब प्रश्न है कि इनमें कौनसा प्रयोजन है, भोग या मोक्ष, या दोनों? "यदि भोग है तो सुख आदि आधान-अतिशय से रहित (निरपेक्ष, पूर्ण) पुरुष का भोग किस प्रकार होगा? दूसरे, भोगापेक्षा से मोक्षाभाव प्रसंग भी होगा। यदि मोक्ष प्रयोजन है तो प्रवृत्ति के पूर्व भी पुरुष तो मुक्त ही है, ऐसी अवस्था में यह प्रयोजन निरर्थक हो जाता है। दोनों प्रयोजन मानने पर भोग

के योग्य प्रधान-तन्मात्राओं के अनन्त होने से मोक्ष का अभाव होगा। उत्सुकता के लिए भी प्रवृत्ति नहीं है, क्योंकि अचेतन प्रधान में उत्सुकता सम्भव नहीं है और न पुरुष में उसके निर्मल-निष्कल होने से प्रवृत्ति सम्भव है।" (2.2.4-5, पृ० 406-7)

7. यदि कहो कि प्रधान और पुरुष अंध व्यक्ति और पंगु व्यक्ति के समान परस्पर उपकारक होकर प्रवृत्त होते हैं, तो यह भी अयुक्त है, क्योंकि दोनों चेतन हैं। यदि अयस्कान्त मणि के समान पुरुष की सन्निधि से प्रधान में प्रवृत्ति कहो तो सन्निधि नित्य होने से प्रवृत्ति भी नित्य होगी और परिणामतः मोक्ष असम्भव होगा। इस पर सांख्य का उत्तर है कि हम गुणों को निरपेक्ष-स्वभाव और कूटस्थ नहीं मानते, हम गुणों का स्वभाव कार्य के अनुसार ही अभ्युपगमित करते हैं। किन्तु शंकर के अनुसार यह भी अयुक्त है क्योंकि "प्रधान में ज्ञान-शक्ति का अभाव होने से रचना-अनुपपत्ति आदि दोष ज्यों के त्यों हैं। यदि सांख्य इस दोष-परिहार के लिए प्रधान में ज्ञान-शक्ति भी माने तो यह हमारे मत की स्वीकृति ही हुई, कि चेतन ही प्रपंच का उपादान है।" (2.2.7-9, पृ० 409-11)

8. अन्त में, शंकर सांख्य की ओर से वेदान्त पर एक आक्षेप उठाकर उसका उत्तर देते हैं। आक्षेप है, "वेदान्त में एक ही ब्रह्म सर्वात्मक है और सम्पूर्ण प्रपंच का (उपादान और निमित्त) कारण है। ऐसा स्वीकार करने पर तप्य और तापक दोनों का एक ही विशेष्य होगा और इस प्रकार ताप-मुक्ति असम्भव होगी।........."तप्ति नाम दुःख का है, वह चेतन को होता है, अचेतन देह को नहीं। यदि देह को ही दुःख होता तो वह देह के नष्ट होने पर स्वयं ही नष्ट हो जाता।"

शंकर इसका उत्तर देते हैं, "देह के अभाव में केवल चेतन को भी दुःख होते नहीं देखा गया है। यह तुम्हें भी इष्ट नहीं है कि तप्ति-क्रिया केवल चेतन को है। अशुद्धि आदि दोषों का प्रसंग होने से देह और चेतन का संघात भी तुमको इष्ट नहीं है और तप को ताप होना भी तुम स्वीकार नहीं करते हो। तो तुम्हारे मत में तप्य-तापक-भाव किस प्रकार सिद्ध होगा? यदि कहो कि सत्वगुण तप्य है, रजोगुण तापक है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि उनके साथ चेतना का संहतत्त्व नहीं हो सकता। यदि कहो कि सत्व (बुद्धि) के अनुसारी होने से चेतन भी तपता-सा, दुःख भोगता-सा है, तो परमार्थ से वह दुःखी नहीं होता। यदि परमार्थ से चेतन तप्त नहीं होता तो 'इव' शब्द दोष के लिए नहीं होता। इसलिए यह तप्य-तापकभाव अविद्याकृत है, पारमार्थिक नहीं है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए। ऐसा मानने पर हमारे पक्ष में भी कोई दोष नहीं है.........यदि कहो कि तप्य और तापक शक्तियों के नित्य होने पर भी ताप निमित्त-सहित संयोग की अपेक्षा रखता है, ...तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अज्ञान-रूप तमोगुण नित्य स्वीकार किया गया है।.........वेदान्त में तो आत्मैकत्व स्वीकार होने से विषय-विषयि-द्वैत नहीं हो सकता, ...इसलिए मोक्षाभाव की आशंका नहीं हो सकती।" (2.2.10, पृ० 413-14)

इस प्रकार संक्षेप में साँख्य के विरुद्ध शंकर की युक्तियों का विवरण है। हमारे विचार में शंकर की ये युक्तियां सांख्य-सिद्धान्त की सूक्ष्मता को समझने में उसकी अनिच्छा की द्योतक हैं। 'अनिच्छा' की द्योतक इसलिए कहा क्योंकि शंकर के द्वारा पूर्वपक्ष के प्रस्तुतीकरण और

खण्डन में कुछ स्थलों पर स्पष्ट खींचातानी दिखायी देती है, जबकि कुछ स्थलों पर सांख्य-दृष्टि की सूक्ष्मता के ग्रहण में लोक-साधारण-सुलभ अपरिष्कृतता प्रकट होती है। यहां हम शंकर की प्रत्येक युक्ति की क्रमशः परीक्षा करेंगे :

1. जैसाकि हमने पिछले अध्यायों में विस्तार से देखा है, सांख्यीय प्रधान जड़ तो है किन्तु भौतिक नहीं है। भूत पदार्थ बुद्धि का एक विकार है जो ग्राहिका इन्द्रियों के ग्राह्य पक्ष का बाह्य विषयरूप है। प्रधान का प्रथम विकार बुद्धि है जो जगत्-रूप में ग्राह्य–ग्राहक भाव से आविर्भूत होती है। शंकर के अनुसार रथ, आसन आदि की रचना अचेतन नहीं कर सकता। सांख्य का उत्तर होगा कि ये अपने स्वरूप में बौद्धिक ही तो हैं और क्या हैं? अब प्रश्न है कि जिसे तुम 'कारण' कह रहे हो वह निमित्त के अर्थ में अभिप्रेत है या कि उपादान के अर्थ में? यदि उपादान के अर्थ में तो रथ, आसन आदि भौतिक हैं, यदि निमित्त के अर्थ में तो ये बौद्धिक हैं। अब यदि आप इन्हें निमित्त से बौद्धिक नहीं मानते तो नाम-रूप का निमित्त ब्रह्म में आधृत करना होगा। तुम भी इच्छा, सुख-दुःख, और विचार आदि मनःस्थितियों को ब्रह्म में स्वीकार नहीं करते, इन्हें अविद्यामूलक मानते हो, तब स्पष्टतः तुम्हारे अनुसार भी ब्रह्म-चैतन्य मनःस्थितियों के रूप में अनुभूत या विदित चेतना नहीं है, बल्कि इनसे अतिक्रांत है। तुम्हारा कहना है कि, "किन्तु हम इनका उपादान ब्रह्म चैतन्य को ही मानते हैं।" किन्तु तब यह स्मरणीय है कि तुम उतना ही और वैसा ही उपादान ब्रह्म को काष्ठ-लोष्ठ का भी मानते हो। क्या काष्ठ-लोष्ठ भी चेतन हैं? तुम्हारा कहना है कि इनमें चेतना अनभिव्यक्त होती है; तो हम प्रश्न करना चाहेंगे कि अनभिव्यक्त चेतना को तुम चेतना कैसे कह सकते हो? क्या विदित हुए बिना किसी को वेदना कह सकते हैं? दूसरे, तब सुषुप्त चेतना को तुम कैसे काष्ठ-लोष्ठ से पृथक् करोगे? क्योंकि सुषुप्ति अनभिव्यक्त चेतना ही है।

किन्तु इससे भी गम्भीरतर आपत्ति यह है कि तुम स्वप्न, जागृति और सुषुप्ति तीनों को चैतन्य की उपाधियां मानते हो, यद्यपि सुषुप्ति को उसके निकटतम मानते हो। यदि ऐसी बात है तो चैतन्य को इन तीनों में से किसी से तद्रूप नहीं कहा जा सकता, और सुषुप्ति को निकटतम कहने से यह और स्पष्ट है कि शुद्ध चित् का अभिव्यक्त चेतना से वैपरीत्य अधिक है। इसमें तुम जो घटाकाश और मठाकाश का उदाहरण देते हो उसमें भी एक बड़ी भ्रामकता है और वह यह कि इनमें तुम घटाकाश और मठाकाश की आकृतियों की अवहेलना कर देते हो। दूसरे इस बात की अवहेलना कर देते हो कि घट और मठ के बिना घटाकाश, मठाकाश नहीं हो सकते। किन्तु वास्तव में यह दृष्टान्त आधार से ही ठीक नहीं है, सुख-दुःखादि अनुभूतियां आकार और अन्तर्वस्तु दोनों में ब्रह्म नहीं हैं, क्योंकि इनके आकार सुख और दुःख हैं और वस्तु वेदना है, ब्रह्म चैतन्य को इन दोनों से अभिन्न नहीं कहा जा सकता। उसके लिए ये दोनों उपाधियां हैं, घटाकाश के समान वेदना को सुख-दुःख से आकारित ब्रह्म-चैतन्य नहीं कहा जा सकता। यदि तुम ऐसा कहोगे तो फिर सुषुप्ति को ब्रह्मावस्था के निकटतम नहीं कह सकते; दूसरे, तब तुम्हें अबोध बालक की चेतना को ब्रह्म के निकटतम कहना होगा जिसमें सुखादि आकार विविक्त रूप से गृहीत नहीं होते।

किन्तु सांख्य जगत् के आविर्भाव को केवल प्रधान की स्वतः प्रवृत्ति से भी नहीं मानता, इसमें वह पुरुष को अनिवार्य लक्ष्य के रूप में देखता है। अर्थात् जगत् प्रधान की पुरुषोल्लेखिता है। 17वीं कारिका में ईश्वरकृष्ण जगत् (संघात) को पुरुष–अर्थक कहते हैं।

यहां पर स्मरणीय है कि सांख्य कार्य से कारण को अनुमेय मानता है और इस प्रकार उसके लिए जगत् के कारण रूप में प्रधान और पुरुष दोनों अभ्युपगमित होते हैं, एकमात्र प्रधान पर्याप्त नहीं है; और दूसरे, प्रधान भौतिक द्रव्य नहीं है बल्कि उस विकृति की प्रकृति है जो विविध विषयों, विषयियों और उनकी कामनाओं, मूल्यों और विचारों का संघात है, और उसी प्रकार जो अविवेक और विवेक दोनों का संघात है। इसे शंकर द्वारा साधारण जनोचित अर्थ में जड़ कहना अयुक्त है। सांख्य-दृष्टि है कि हमारे क्रिया-कलाप, हमारे सुख-दुःख, हमारे अनुभूति-विचार, इन सबकी अपने-आप में कोई सार्थकता, कोई पर्याप्त प्रयोजन नहीं है। यह इस बात से भी प्रकट है कि मनुष्य इनके सहित असंतुष्ट अनुभव करता है और इनसे परे, इनके आगे, अर्थ का अन्वेषण करता है : "मोक्षार्थ प्रवृत्तेश्च।"

2. दूसरी आपत्ति भी इसी प्रकार सांख्य के अभिमत को भ्रामक रूप से प्रस्तुत करने पर आधारित है। जैसा कि हमने पीछे भी कहा, सांख्य के लिए जगत् के प्रसंग में बाह्य और आध्यात्मिक में कोई भेद नहीं है। परमार्थतः त्रैगुण्य मात्र बाह्य है, केवल पुरुष आध्यात्मिक है। जहाँ तक विकार-भेद का सम्बन्ध है, आध्यात्मिक विकार ही बाह्य विकारों के कारण हैं, और उपादानतः इनमें (बाह्य और आध्यात्मिक में) अन्तर केवल सात्विक और तामसिक के मात्रा-भेद का है। इसके अतिरिक्त, वेदान्त भी तो बाह्य और आन्तर में मौलिक भेद नहीं मानता? वेदान्त के अनुसार भी ब्रह्म ही भौतिक और आध्यात्मिक : सुख-दुःख के ग्राहक मन और सुख-दुःख-दायक इनके विषयों : का कारण है।[10] शंकर भी भौतिक और मानसिक को क्रमशः अनभिव्यक्त और अभिव्यक्त चेतना के रूप में ही देखते हैं।

3. सांख्यकारिका 15 में प्रकृति और विकृति में एक भेद यह बताया गया है कि विकृति :जगत्:जबकि परस्पर परिमित अवयवों में विभक्त है, प्रकृति उस प्रकार विभक्त नहीं है। जगद्-गत वस्तुओं की परिमितता इस बात के लिए प्रमाण है कि ये कार्य हैं और इस प्रकार ऐसे कारण के अपेक्षी हैं जो इस प्रकार कारण-कार्य रूप से, अथवा संख्यात्मक रूप से, परस्पर परिमित वस्तुओं से घटित नहीं है। इस पर शंकर का आक्षेप है कि तीन गुण भी परस्पर परिमित ही हैं। परिणामतः त्रिगुणात्मक प्रधान को भी कार्य ही मानना पड़ेगा।

यह आपत्ति प्रथम दृष्टि से युक्तियुक्त प्रतीत होती है और इसका सांख्यकारिका के दो मुख्य भाष्यकारों वाचस्पति मिश्र और विज्ञानभिक्षु के भाष्यों से, अथवा इसके एक आधुनिक व्याख्याकार श्री रामशंकर भट्टाचार्य की व्याख्या से कोई समाधान नहीं होता। उनके अनुसार, "अनेक महत्तत्वों के परिमितत्व को देखकर ही अव्यक्त का अनुमान किया जाता है। यहां तत्त्वों के 'परिमित होने' की युक्ति का तात्पर्य है–महद्गत परिच्छिन्न प्रकाश-क्रिया-स्थिति-त्वभाव को देखकर अपरिच्छिन्न प्रकाशादि का अनुमान करना। महद्-गत परिच्छिन्नता सूक्ष्मतम

10. ऐतरेय उपनिषद्, अ० 1; बृहदारण्यकोपनिषद्, अ० 1, ब्राह्मण-2; वेदांत परिभाषा, प्रत्यक्ष परिच्छेद : "निरुपाधिक चैतन्य एक होता हुआ भी उपाधि-भेद से प्रमातृ-चैतन्य और विषय-चैतन्य रूप से तीन प्रकार का हो जाता है।"

परिच्छिन्नता है। जिस प्रकार अहंकार-रूप भेद से महत्-रूप जो कारण अनुमित होता है वह परिच्छिन्न ही है, महत्-रूप भेदों का अनुमित कारण उस प्रकार परिच्छिन्न नहीं हो सकता।"[11] स्पष्टतः इसमें शंकर की आलोचना का कोई उत्तर नहीं है। लार्सन ने अपनी पुस्तक **क्लासीकल सांख्य** में शंकर द्वारा सांख्य की आलोचना पर विशेष रूप से एक पृथक् अध्याय में विचार किया है और उसमें शंकर की इस आलोचना को भी अनुसूचित किया है। उसका उत्तर अत्यन्त सूझपूर्ण है। उसके अनुसार, "संयोग और परिवर्तन सम्पूर्ण (जगत्) व्यवस्था में घटित होते हैं और मनस् के स्तर पर परिमेय देश और काल प्रधान से भिन्न कोटियां नहीं हैं। देश और काल वास्तव में जगत् की क्रिया-व्यवस्था की गौण सहगामी कोटियां हैं और इस प्रकार उसकी सापेक्ष हैं। इस प्रकार, जब शंकर........ ....यह आपत्ति करता है कि गुण (भी तीन होने से) अपने एक कारण को पूर्वकल्पित करते हैं, तब वह सांख्य को समझने में अपनी असामर्थ्य ही प्रकट करता है।"[12] यहां यह आपत्ति की जा सकती है कि आखिर गुण तीन तो हैं ही और उनमें एक का आधिक्य दूसरे की न्यूनता का हेतु होता है, ऐसी अवस्था में इनमें परस्पर परिमितता तो है ही। परिमितता केवल देश या काल प्रकारक ही नहीं होती, अन्य प्रकार की भी होती है, जैसे दो अवधारणाओं : गोत्व और अश्वत्व, देश और काल, जड़ और चेतन : में परस्पर है।

इसका समाधान यह है कि अवधारणात्मक परिमिति तात्त्विक परिमिति नहीं है। उदाहरणतः जड़ और चेतन जबकि अवधारणाओं के रूप में परस्पर व्यावर्तक हैं, तत्त्वों के रूप में परस्पर व्यावर्तक नहीं हैं। इसी से सांख्य दोनों को विभू : सर्वव्यापक: मानता है, पुरुषों को अनेक मानते हुए भी परस्पर परिसीमक नहीं मानता, और इस पर शंकर कोई आपत्ति नहीं उठाते। इस पर कहा जा सकता है कि पुरुषों का बहुत्व या जड़-चेतन का द्वैत परस्पर परिमिति के बिना कैसे सम्भव है? इसका उत्तर यह है कि यह केवल हमारी अवधारणाओं का स्वभाव है कि इनमें व्यावृत्ति के बिना कुछ ग्रहण नहीं हो सकता, इसी प्रकार यह हमारे देश और काल के आकार का स्वभाव है कि इनमें बँटे बिना कुछ ग्राह्य नहीं हो सकता, किन्तु यह वस्तु-स्वभाव नहीं है। उदाहरणतः गोत्व को अपनी सत्ता के लिए अश्वत्व की अपेक्षा नहीं है, और न इस घट को अन्य घट की या पट की, या व्यावर्तक देश की अपेक्षा है। इस पर कहा जा सकता है कि, किन्तु घट दैशिक परिभाषा के बिना और गोत्व अवधारणात्मक परिमिति के बिना हो ही नहीं सकते। यह सही है, किन्तु तब यह इनको स्वरूपतः इन्द्रियगोचर और बुद्धि-गोचर विषय कहना है, जबकि प्रधान इस प्रकार विषय नहीं है। प्रधान के अविषय या विषयता से प्राक् होने से उस पर ऐन्द्रिक या बौद्धिक विषयता की कोटियां लागू नहीं की जा सकतीं।

4. यहां शंकर उपादान और निमित्त कारणों में व्यामिश्र का सहारा ले रहे हैं। किन्तु यह द्रष्टव्य है कि सांख्य एक प्रकार से निमित्त कारण को परमार्थतः स्वीकार ही नहीं करता,

11. श्रीरामशंकर भट्टाचार्य-सांख्य तत्त्वकौमुदी, ईश्वरकृष्ण-कृत सांख्यकारिका का वाचस्पति मिश्र कृत 'तत्त्व कौमुदी' नामक भाष्य और उसके हिन्दी अनुवाद-सहित ज्योतिष्मती व्याख्या, पृ० 130.
12. जी० लार्सन—क्लासिकल सांख्य, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 11, पृ. 225.

केवल उपादान कारण को ही स्वीकार करता है; और दूसरे, गौण प्रकार से, त्रैगुण्य के स्वरूपतः पुरुषापेक्षी होने से वह इस अपेक्षा को ही निमित्त मानता है। सांख्य को मुख्य अर्थ में निमित्त को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सांख्य जगत् को अनादि मानता है और इस प्रकार उसको किसी प्रवर्त्तक की आवश्यकता नहीं है। किन्तु तब शंकर आपत्ति कर सकता है कि सांख्य प्रवृत्ति को तो स्वीकार करता है, यह प्रवृत्ति प्रवर्त्तक में है, या प्रवृत्त में? इसके लिए सांख्य का उत्तर है कि प्रवृत्ति बुद्धि में है, जो एक-साथ प्रवर्त्तक और प्रवृत्त है। बुद्धि में यह उभयता इस कारण सम्भव है कि यह एक-साथ विषय और विषयी हो सकती है। यदि आपत्ति की जाय कि यह उभयविधता एक में कैसे सम्भव है, तो इसका उत्तर है कि बुद्धि का यह स्वभाव दृष्ट है : हम एक-साथ विचार भी करते हैं और विचार-वस्तु (प्रत्यय) को विषय रूप में भी जानते हैं। जो इस प्रकार उभयात्मक नहीं हो सकता वह प्रवर्त्तक भी नहीं हो-सकता। ब्रह्म यह नहीं हो सकता, क्योंकि एक तो इस प्रवृत्ति का कोई प्रयोजन नहीं होगा और दूसरे, प्रवर्तकता को ब्रह्म में आगन्तुक कहना होगा। यदि इसे उसमें आगन्तुक मान लें तो यह द्वैत होगा। शंकर, या कहें वेदान्त, इस कठिनाई के निवारण के लिए माया की कल्पना करता है। शंकर के अनुसार ब्रह्म स्वरूपतः उदासीन है किन्तु माया के आश्रय से प्रवर्तक है (स्वरूप व्यपाश्रयमौदासीन्यं माया व्यपाश्रयं प्रवर्तकत्वम्) किन्तु यह एकदम निरर्थक बात लगती है। "यदि ब्रह्म के स्वाभाविक औदासीन्य के बावजूद माया सक्रिय हो सकती है, तो उसी प्रकार प्रकृति भी सक्रिय हो सकती है। यदि माया के लिए क्रियार्थ ईश्वराश्रित होना अनिवार्य है, जैसाकि शंकर मानते हैं, तब इसमें अन्योन्याश्रयत्व दोष होगा, क्योंकि ईश्वर पर माया की उपाधि के कारण माया की क्रियाशक्ति है और माया में क्रिया-शक्ति उसके ब्रह्म पर उपहित होने से आती है।"[13] किन्तु वास्तव में शांकर मत की अयुक्तता इससे कहीं गंभीर है, क्योंकि माया उसके अनुसार असत् होने से, वह ब्रह्माधिष्ठित, ब्रह्मस्वभावान्तर्गत, अथवा कम से कम ब्रह्म से संकल्पित, हो जाती है और तब ब्रह्म उदासीन नहीं रहता। शंकर की ओर से इसका यह उत्तर हो सकता है कि माया जगत्-प्रतिभास : व्यवहार : को समझने के लिए अभ्युपगमित की जाती है, जिसे द्वैतवादी सिद्धान्त से समझना दुर्निवार तर्क-दोषों से आकीर्ण है। किन्तु ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि शंकर कहीं पर भी जगत्-प्रतिभास की व्याख्या के लिए उत्सुक दिखायी नहीं देता, वह श्रुतियों के आधार पर सीधे परमार्थ तत्त्व का निरूपण करता है और ब्रह्म को सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ आदि कहता है। अब तर्कतः सर्वशक्तिमत्व शक्ति के बाधक को और सर्वज्ञता ज्ञान के बाधक को पूर्वकल्पित करती हैं। जीव उपाधि से बाधित होने से अल्पज्ञ आदि है, किन्तु ब्रह्म, जिसकी सत्ता उपाधि-रहित ही नहीं है बल्कि उपाधि की सम्भावना से ही रहित है, अर्थात् जिसकी अवधारणा में उपाधि वदतोव्याधात है, उसे सर्वशक्तिमान्-सर्वज्ञ आदि कैसे कहा जा सकता है? सांख्य पुरुष को कहीं सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् नहीं कहता, क्योंकि वह निर्बाध होने से ज्ञान और शक्ति से अतिक्रामी है।

किन्तु जैसाकि हमने कहा, 'कारण' से सांख्य का अर्थ 'उपादान कारण' से है, निमित्त कारण से नहीं, जैसाकि शंकर के भी ब्रह्म को जगत् का कारण कहने से अधिकांशतः यही अर्थ

13. रामचंद्र शास्त्री—एन एग्ज़ामीनेशन आफ शंकर्स रेफ्यूटेशन आफ दि सांख्य-थ्योरी, पृ॰ 69.

होता है । अब जगत् का उपादान कारण प्रधान को कहना युक्तिसंगत है या नहीं, यह प्रश्न ही सांख्य के प्रसंग में उठाया जा सकता है, यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि निमित्त के बिना उपादान कारण कार्य रूप में परिणत हो सकता है या नहीं, यह नहीं कि जहां वह कह रहा है कि 'जड़ कार्य का जड़ ही उपादान हो सकता है' वहां कोई कहे कि 'नहीं, क्योंकि कुछ जड़ कार्यों का निमित्त कारण चेतन हो सकता है इसलिए सब जड़ कार्यों का उपादान जड़ कहना युक्त नहीं है ।''

5. यहां पांचवी आपत्ति में शंकर निमित्त के बिना उपादान की कार्य रूप में परिणति की असंभवता का प्रसंग सही रूप में प्रस्तुत करते हैं । इसका आंशिक उत्तर ऊपर दिया जा चुका है कि, सांख्यीय प्रधान उस स्थूल अर्थ में जड़ नहीं है जिसमें लोक-साधारण इस शब्द : जड़ : को समझते हैं और उनके अनुसारी शंकर भी समझ रहे हैं, यह उस अर्थ में जड़ है जिसमें इन्द्रियां और मन ही नहीं बल्कि अहंकार और बुद्धि भी सम्मिलित हैं, क्योंकि ये सब पुरुषेतर हैं, अनात्म हैं । किन्तु शंकर इस ग्राम्य अर्थ में ही 'जड़' शब्द को समझते हुए वेदान्त के विरुद्ध आपत्ति प्रस्तुत कर उसका उत्तर देते हैं कि जिस प्रकार अयस्कान्त मणि लोहे को और रूपादि विषय इन्द्रियों को स्वयं प्रवृत्त हुए बिना भी प्रेरित करते हैं उसी प्रकार आत्मा भी देहादि को प्रेरित करता है ।

यहां प्रथम तो यह द्रष्टव्य है कि दार्शनिक को ऐसी उपमा का सहारा नहीं लेना चाहिए जो स्वत:स्पष्ट या स्वत:सिद्ध नहीं हो । यहां पहली उपमा का उपमान भौतिक रूप से असिद्ध है और दूसरी उपमा का उपमान दार्शनिक रूप से विवादास्पद । इसके अतिरिक्त, दूसरी उपमा में दो दोष और हैं—प्रथम, इसमें जड़ है जो प्रवृत्त हुए बिना चेतन को प्रवर्तित करता कहा जा रहा है, जबकि शंकर सिद्ध यह करना चाहते हैं कि चेतन के बिना जड़ प्रवृत्त नहीं हो सकता । और दूसरे, प्रवर्तक-प्रवर्त्य जड़-चेतन होने से यहाँ समस्या दार्शनिक है, कि इनमे सम्बन्ध क्या और कैसे है ? वैसे यहां यह स्मरणीय है कि क्योंकि शंकर इन्द्रिय और विषय दोनों को चैतन्य पर समान रूप से उपाधियाँ मानते हैं इसलिए आत्यंतिक रूप से उनके विरुद्ध यह आक्षेप नहीं हो सकता, किन्तु यहां उन्होंने जिस प्रकार युक्ति दी है उसमें यह आक्षेप युक्त है ।

किन्तु दूसरी और गंभीरतम आपत्ति यह है कि यदि शयन-आसन आदि का निमित्त कारण होना आवश्यक है और वह ब्रह्म है, तो वह इन प्रत्ययों और प्रयोजनों से संवृत और संस्कृत होगा : देह, इन्द्रियां और अन्त:करण आदि यदि अन्य उपादान के परिणाम नहीं हैं तो वे ब्रह्म के परिणाम ही होंगे, किन्तु तब ये ही ब्रह्ममय नहीं होंगे, ब्रह्म भी इन-मय होगा । उदाहरणत: हमारे दिवास्वप्नों या जादुई रचनाओं को लें । इन दोनों की सृष्टियाँ सर्जक मनस् से अभिन्न होती हैं, किन्तु इस कथन के साथ ही यह अनिवार्यत: आपादित होता है कि वह मनस् या सर्जक इन सृष्टियों में व्यक्त या संरचित होता है । दूसरे शब्दों में, 'कल्पना करना' का सही अनुवाद यह नहीं होगा कि ''मन कल्पना करता है,'' बल्कि यह होगा कि ''मन कल्पना-वृत्तिक है ।'' इस प्रकार ब्रह्म के अदृश्य होने पर और इस प्रकार जगत् के : नाम रूप के : अविद्यामूलक होने पर, अथवा, मायोपादानक होने पर, ब्रह्म माया और अविद्या से अदूषित नहीं रह सकता । यदि यह भी मान लें कि अविद्या के निवृत्त हो जाने पर वह तिरोहित हो जाती है, जैसे रज्जु

में सर्प-भ्रम के नष्ट हो जाने पर भ्रम तिरोहित हो जाता है, तो भी अविद्या के रहते चैतन्य को अविद्या से अकलुषित नहीं कहा जा सकता। शंकर ने ब्रह्म और जीव के बीच एक ईश्वरीय स्थिति की कल्पना की है जो अविद्या से रहित है किन्तु माया से उपहित है। इसे माया का स्वतन्त्र आक्षेपक कह सकते हैं। किन्तु जैसा कि हमने ऊपर कहा, इससे स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि जादूगर जादू-विषयों को कल्पित करते हुए विषय-वृत्तिक होने से नहीं बच सकता। शंकर ने यह प्रश्न शारीरक भाष्य के सूत्र 2.1. 4–6 में उठाया है और इसका समाधान करने का प्रयत्न किया है; किन्तु ये तर्क नितान्त दुर्बल हैं, वास्तव में उनका कोई अर्थ ही नहीं बनता। तर्क इस प्रकार है :

जगत् और ब्रह्म एक-दूसरे से विलक्षण (भिन्न प्रकार के) हैं, यह आपत्ति करने वाला यह बात किस अर्थ में कह रहा है? 1. क्या वह जगत् में ब्रह्म-स्वभाव की पूर्ण अनुवृत्ति देखना चाहता है, या 2. किसी भी स्वभाव की अनुवृत्ति का अभाव, या कि 3. चैतन्य की अनुवृत्ति का अभाव? (1) इनमें पहली बात होने पर तो कार्य-कारणभाव ही समाप्त हो जायेगा, क्योंकि प्रकृति और विकृति (कारण और कार्य) में अतिशय वैलक्षण्य नहीं होने पर यह प्रकृति है, यह विकार है, यही भेद नहीं रहेगा! (2) द्वितीय पक्ष में असिद्धि दोष है, क्योंकि जैसाकि हम पहले कह चुके हैं, सत्ता-लक्षण की अनुवृत्ति ब्रह्म में और महाभूतों में देखी जाती है। (अर्थात् ब्रह्म सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है, महाभूतों में यद्यपि चित् और आनन्द लक्षण नहीं हैं किन्तु सत् लक्षण है।) (3) तृतीय पक्ष में (चैतन्य की अनुवृत्ति के पक्ष में) दृष्टान्त का अभाव है, क्योंकि श्रुति में इस समस्त वस्तु-समुदाय को ब्रह्मोपादानक माना गया है।" (2 1.6., पृ० 349) यहाँ तीनों उत्तरों की दुर्बलता स्पष्ट है—(1) सांख्य जब जड़ कार्य का कारण भी जड़ होने की अपेक्षा करता है तब उसमें पूर्ण अनुवृत्ति की मांग नहीं है, किन्तु ऐसे एक मूल लक्षण की अनुवृत्ति की मांग है जिसके बिना कारण-कार्य सम्बन्ध मानने पर किसी भी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न हो सकता है। इसलिए जब शंकर दूसरे उत्तर में केवल सत्ता-लक्षण की अनुवृत्ति को पर्याप्त कहता है तब इस मांग को छोड़ देता है, क्योंकि सत्ता को यदि लक्षण भी मान लें तो भी वह ऐसा लक्षण है जो सबमें समान है, इसके अनुसार तो घट से पट और कुम्हार भी उत्पन्न हो जायेंगे, क्योंकि इनमें सत्ता-लक्षण सामान्य है। किन्तु वास्तव में सत्ता कोई लक्षण नहीं है, क्योंकि लक्षणों की भी सत्ता है। इस प्रकार लक्षणों में सत्ता पूर्व-कल्पित है। यह इतनी सामान्य है कि इसका अभाव अकल्पनीय है। इस प्रकार जब ऐतरेयोपनिषद् का ऋषि कहता है कि, "आरम्भ में केवल असत् ही था" तब यह असत् भी सत्ता में आकलित हो जाता है, अथवा कहें, मात्र सत् असत् से अविलक्षण है, जैसाकि हेगल ने कहा है।[14] तीसरी युक्ति युक्ति है ही नहीं। दूसरी युक्ति भी युक्ति नहीं होकर उसका केवल आभास है। पहली युक्ति युक्ति है, किन्तु वह सांख्य के अभिमत को भ्रामक रूप से प्रस्तुत करने पर आधारित है। किन्तु इसमें एक और गंभीरतर दोष भी है और वह यह कि यह जिस प्रतिज्ञा पर आधारित है उसे शंकर सांख्य से भी अधिक अमान्य करते हैं। सांख्य सत्कार्यवादी होते हुए भी कम से कम परिणाम को स्वीकार करता है, शंकर वह भी नहीं करते, उनके अनुसार कार्य वहीं तक सत् है

14. Hegel's Logic, Translation in English by W. Wallace, P. 127.

जहां तक कारण से अभिन्न है, अर्थात् दही वहीं तक सत् है जहां तक वह दूध के लक्षणों से समन्वित है। उनके शब्दों में, जो इसके अगले ही सूत्र के भाष्य में उन्होंने लिखा है—"जिस प्रकार यह कार्य (जगत्) अभी भी कारण रूप से सत् है, उसी प्रकार उत्पत्ति के पूर्व भी था। अब भी यह कार्य कारण-स्वरूपता से ही सत् है। उत्पत्ति के पूर्व कारण के कार्य-रूप होने में वर्तमान काल से कोई अन्तर नहीं है। परन्तु क्या शब्द-रहित ब्रह्म जगत् का कारण है ? हां है, किन्तु शब्दादि युक्त कार्य कारण-रूप से रहित न उत्पत्ति के पूर्व था और न अब है।" (2.1.7)

6. सांख्य के विरुद्ध दिया गया यह तर्क भी उनके सांख्य के वास्तविक तात्पर्य के अग्रहण का द्योतक है। प्रथम आक्षेप है कि, निरपेक्ष पुरुष में भोग किस प्रकार होगा ? क्योंकि भोग इच्छापूर्वक होता है। दूसरी आपत्ति है कि पुरुष तो स्वरूपतः मुक्त है, तब प्रधान की पुरुष के मोक्षार्थ प्रवृत्ति का क्या अर्थ है ? यहां हम पहले शंकर से प्रश्न करेंगे कि जब सांख्य पुरुष को पूर्णतः निरपेक्ष और मुक्त-स्वरूप मानता है किन्तु तब भी वह जो प्रधान की प्रवृत्ति के ये दो प्रयोजन कहता है, तब उसका इसमें कुछ तो अभिप्राय होगा ही, वह इतना मूढ़ तो नहीं हो सकता कि वह पुरुष-सम्बन्धी अपने मूल और स्पष्ट लक्षण के विरुद्ध इतनी स्पष्ट बात कहे। तब प्रश्न है कि ये प्रयोजन किस प्रकार संगत कहे जा सकते हैं ? इसके समाधान के लिए हम श्री यशदेव शल्य के एक लेख "प्रकृति तत्त्व" में से उद्धरण देंगे। उनके अनुसार, "सांख्य का विचार्य विषय मनुष्य है।..................मनुष्य मुक्त नहीं है, किन्तु मोक्षाकांक्षी है। इसका अर्थ है कि मुक्ति है, क्योंकि यदि मुक्ति : मुक्त-भाव, स्वातंत्र्य : वस्तु-सत् नहीं हो तो मोक्षाकांक्षा भी नहीं हो सकती। मुक्त-सत् के बिना मोक्षाकाँक्षा असंभव है, क्योंकि आकांक्षा भाव-अभाव का यौगपद्य है, और अभाव यदि भावाश्रित नहीं है, भाव का आत्मव्यवधान नहीं है, तो वह स्वयं एक पूर्ण भाव हो जायगा और परिणामतः आकाँक्षा एक अनन्त, शाश्वत और अनिवार्यतः असफल पर्येषणा हो जायगी। किन्तु दूसरी ओर यदि मुक्तावस्था मोक्षावस्था का साध्य नहीं होकर नित्य सिद्ध अवस्था हो, तो भी मोक्षाकाँक्षा नहीं हो सकती। दूसरी ओर, यदि मोक्षाकांक्षा और मुक्तावस्था एक ही अधिष्ठान में हों तो वह वास्तव में मोक्षाकांक्षा ही होगी, मुक्तावस्था नहीं, क्योंकि मोक्षाकांक्षा मुक्तामुक्त अवस्था है और अमुक्तता के रहते मुक्तपूर्णता नहीं हो सकती। इसलिए उसका (सांख्य का) समाधान है कि भाव : मुक्ति : नित्य सिद्ध अवस्था है, मोक्षाकांक्षा अभाव में भाव का व्याकरण है (पाद-टिप्पणी में साँख्यकारिका 55-56 निर्दिष्ट)। इसके विपरीत वेदान्त इनका (मोक्षाकाँक्षा और मुक्ति का) एक ही अधिष्ठान मानता है, किन्तु तब वह मोक्षाकांक्षा को, अभाव को, मिथ्या मानता है।"[15] इसी लेख में आगे प्रयोजन की व्याख्या देते हुए वे लिखते हैं : "उसके (सांख्य के) अनुसार प्रकृति केवल ऐन्द्रिक प्रत्ययों का सत्यापक द्रव्य नहीं होकर वह व्यापार है जो साध्य अर्थ : स्वातंत्र्य : के साधन के रूप में उससे पृथक् है, अथवा जो विषयिता के परिपूर्ण वैभव को सापेक्ष विषयता के माध्यम में स्फुटित कर उसे निरपेक्ष विषयता में उपसंहृत करता है। इसके अनुसार इन्द्रियगोचर वस्तु और ऐन्द्रिक प्रत्यय एक ही जगद्व्यापार के दो पक्ष हैं, प्रत्यय सत्त्व-प्राधान्य है और विषय तमस-प्राधान्य। पुरुष को

15. यशदेव शल्य, 'प्रकृति-तत्त्व', लेखनाधीन पुस्तक 'सत्ताविषयक अन्वीक्षा' का अध्याय-5 (परामर्श त्रैमासिक, जून, 1984)

सिद्ध-साध्य के रूप में और जगत् को साधन : उन्मेष-व्यापार : के रूप में कल्पित कर सांख्य अद्वैत-वाद की इस समस्या के समाधान का प्रयत्न करता है कि स्वतन्त्र और सम्पन्न अद्वय तत्त्व सापेक्षताओं में आत्म-व्यवहित कैसे होता है ? यद्यपि नागार्जुन, वसुबन्धु और शंकर तीनों इसके अद्वैतवादी समाधान का प्रयास करते हैं, कि तत्त्वतः सापेक्षताएं असत् हैं : जिस प्रकार वृत्त के दो अर्ध भागों की सापेक्षता निरपेक्ष वृत्त में उनकी प्रतिष्ठा के कारण ही होती है उसी प्रकार जागतिक सापेक्षताएं वस्तुतः निरपेक्ष में प्रतिष्ठित हैं। किन्तु भ्रम, अभाव और दोष की विद्यमानता मानव-चेतना में अनुभूत होती है और अन्यत्र तर्क-गम्य। अब यदि अनुभव-गम्य और तर्क-गम्य अपेक्षाएं भ्रांति हैं तो फिर भ्रांति के सम्बन्ध में वही समस्या होगी, कि वह कैसे है ? अवश्य उपर्युक्त तीनों दार्शनिक इस समस्या के समाधान का प्रयत्न भी करते हैं, किन्तु इसी समस्या के समाधान का एक द्वैतवादी प्रयत्न सांख्य करता है। साँख्यीय द्वैतवाद को निम्न तीन सूत्रों में रखा जा सकता है : (1) दर्शक-दृश्य, विचारक-विचार्य और भोक्ता-भोग्य सभी कुछ प्राकृतिक है, (2) परिणामतः जगत् या प्राकृतिक व्यापार पुरुषोल्लेखी, अथवा कहें अर्थान्वेषण की प्रक्रिया है। (3) अन्वेष्य इस प्रक्रिया का लक्ष्य-भूत निरपेक्ष-स्वतन्त्र चित्-सत् है, जो जगत्-प्रक्रिया के लिए साध्य होने पर भी स्वतः त्रिकाल-सिद्ध है।"[16]

इस प्रकार शंकर की आपत्तियां सांख्य पर भी तभी लागू हो सकती हैं यदि पुरुष और प्रकृति को दो सिद्ध वस्तुएं मान लिया जाय, जबकि सांख्य के लिए ये आत्म-अपर्याप्त मनुष्य और जगत् के लिए क्रमशः आदर्श या अन्वेष्य और पर्यन्त स्थितियां हैं। यदि ऐसी ही आपत्तियाँ वेदान्त के विरुद्ध उठायी जांय तो इस संदर्भ में उसके पास भी इनका कोई समाधान नहीं होगा। जैसे, ब्रह्म के ज्ञान-स्वरूप होने पर, अद्वय होने पर, अविद्या कैसे और किसे होती है ? आदि।

7. इस आपत्ति का आधार उपमान और उपमेय के अप्रासंगिक धर्मों में असमानता दिखाकर खण्डन करना है। इस उपमा से सांख्य का अभिप्राय केवल पुरुष और प्रकृति की पारस्परिकता के स्वरूप का निरूपण करना है। यहां उचित प्रश्न यह हो सकता है कि पुरुष-चैतन्य को निष्क्रिय और प्रकृति को सक्रिय कहने का क्या औचित्य है और इस प्रकार के दो तत्त्वों (प्रिंसीपल्स) में सम्बन्ध कैसे हो सकता है और वह क्यों आवश्यक है ? इसका उत्तर हम पीछे प्रथम अध्याय में दे चुके हैं, अवान्तरतः इसका उत्तर ऊपर के दो उद्धरणों में भी है, यहाँ हम संक्षेप में पुनः कहेंगे :

जैसाकि हमने कहा, अथवा कहें जैसाकि सांख्य "संघात परार्थत्वात्" से आपादित करता है, जगत् न मात्र पुरुष है और न मात्र प्रकृति; अथवा चित्र की उपमा से कहें तो यह न मात्र रंग-रेखा है और न मात्र प्रत्यय, यह रंग-रेखाओं में निरूपित प्रत्यय है। यहां कहा जा सकता है कि, किन्तु चित्रकार के बिना यह निरूपण कैसे होगा ? सांख्य का उत्तर होगा कि इस उपमा में समान धर्मों को इससे आगे दिखाने की मांग करना अनुचित है, लौकिक प्रसंग अलौकिक स्थितियों को केवल व्यंजित कर सकते हैं, उनका वर्णन नहीं कर सकते। साहित्यिक प्रसंगों तक में उपमा में पूर्ण समान धर्मों की मांग विहित नहीं होती, उदाहरण के लिए "मेरा प्रिय फूल सा सुन्दर है" में समान धर्म केवल दर्शक की अनुभूतिगम्य है। कर्त्तृत्व के बिना

16. वही।

सप्रयोजन क्रिया का उदाहरण अवर जीवों की सहज प्रवृत्तियों में देखा जा सकता है। जैसे चिड़िया विचार या कर्म के अभिमान-पूर्वक घोंसला-निर्माण नहीं करती, वह मात्र एक क्रिया होती है जो उसके अंगों से लेकर तिनकों के घोंसला रूप में एकत्र होने तक एक ही क्रम में होती है। यदि कहा जाय कि नहीं, चिड़िया में कर्तृत्वाभिज्ञता होती है, तो हम कहेंगे कि, मान लें कि यह विवादास्पद है, किन्तु तब विवाद यह है कि घोंसला-निर्माण सहज प्रवृत्ति है या साभिमान कर्म? अब इस प्रश्न का अर्थ है कि सहज प्रवृत्ति सम्भव है इसलिए अकल्पनीय नहीं है। हम आपसे इसी कल्पना के सहारे परमार्थ को समझने का अनुरोध कर रहे हैं।

यहां एक जो दूसरी बात द्रष्टव्य है वह यह कि शंकर ने आपत्ति सं० 5 में सांख्य द्वारा वेदान्त की आलोचना का उत्तर अयस्कान्त मणि से दिया था। यहां सांख्य की उसी उपमा पर वे आक्षेप कर रहे हैं। किन्तु यह उपमा युक्ति के लिए वास्तव में सहायक ही नहीं है। शंकर ने इसके आगे जो सांख्य का पूर्वपक्ष दिया है वह सांख्य की वेदान्त से मौलिक रूप से भिन्न अभिवृत्ति का द्योतक है, कि उसके परम अर्थ भाव-रूप वस्तुएँ नहीं हैं बल्कि अनुभवगत स्थिति में व्यंजित तत्त्व (प्रिंसीपल्स) हैं जो उतने ही भाव रूप हैं जितने भाव्य रूप, उतने ही वस्तु-रूप हैं जितने क्रिया और घटना-रूप। ऐसी अवस्था में शंकर की आपत्ति कि "रचना के लिए ज्ञान-पूर्वकता अनिवार्य है" अप्रतिष्ठित है, क्योंकि सांख्य का उत्तर होगा कि हम रचना ही को नहीं मानते। वह कहेगा, जगत् है, जिसे हम मूल्यात्मक पक्ष (भोग और मोक्ष) में कार्य या अभिव्यक्ति कह सकते हैं और सत्तात्मक पक्ष में प्रकृति और पुरुष।

(७) इसमें सांख्य के विरुद्ध कोई युक्ति नहीं दी गई है बल्कि वेदान्त के विरुद्ध सांख्य की ओर से आक्षेप प्रस्तुत कर उसका उत्तर दिया गया है। यहां हम इस प्रश्न पर विस्तार से विचार नहीं करेंगे, क्योंकि इस पर पीछे प्रथम अध्याय में विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त, यह प्रश्न अत्यन्त आधारभूत है कि द्वैतवाद क्यों, अद्वैतवाद क्यों नहीं? किन्तु यहां हम संक्षेप से दोनों पक्षों को प्रस्तुत करेंगे।

सर्वप्रथम यहां द्रष्टव्य है कि साँख्य और वेदान्त, किन्तु सांख्य विशेष रूप से, जीवन की सार्थकता के सम्बन्ध में अन्वेषण-मूलक दृष्टि के व्याख्यान का प्रयत्न करते हैं, परिणामतः वे, विशेषतः सांख्य, सत्ता के आधार का अन्वेषण नहीं कर मूल्य (भोग और मोक्ष) के आधार का अन्वेषण करते हैं। इसी से तप्य और तापक के स्वरूप का प्रश्न उठता है। सांख्यकारिका जगत् की दुःख-स्वरूपता और उसके आत्यन्तिक निवारण के उपाय के अन्वेषण के प्रयोजन के साथ और शंकर युष्मत् प्रत्यय को अस्मत् प्रत्यय समझने की भ्रांति के निवारण के प्रयोजन के साथ अपना विचार आरम्भ करते हैं। द्रष्टव्य है कि सांख्यीय अविवेक भी यही है। दोनों दर्शनों के लिए यह भ्रांति या अविवेक ही ताप का कारण है, दोनों के लिए यह ताप अविद्यामूलक और इस प्रकार असत् है। किन्तु तब क्या अविद्या भी असत् है? इसमें सांख्य का पक्ष शंकर ने प्रस्तुत किया है कि "तप्य और तापक शक्तियों के नित्य होने पर भी ताप निमित्त-सहित संयोग की अपेक्षा करता है।" यह प्रस्तुति अंशतः सही है किन्तु अंशतः और बहुत सूक्ष्म रूप से भ्रामक भी है—*भ्रामक इसलिए कि यह वस्तुवाचक पदावली का प्रयोग है। ताप सांख्य के* अनुसार दो वस्तुओं के संयोग से उत्पन्न या नव्योत्क्रान्त गुण नहीं है, "प्रकृति" ताप-उपशम का वाचक पद है, 'विकृति' ताप का वाचक पद। इसलिए यह कहना कि 'ताप-रूप तमोगुण

नित्य स्वीकार किया गया है' अविचार है । शंकर का तर्क यह होना चाहिए कि ताप यदि गुण नहीं है तब उपशम होने पर वह रहता ही नहीं, और यदि उपशम होने पर वह आत्यन्तिक रूप से विलुप्त हो जाता है तब वह वस्तुतः है ही नहीं, केवल प्रतीति है । किन्तु तब सांख्य का तर्क होगा कि ताप हम अनुभव करते हैं । यदि वह प्रतीति मात्र भी हो तो ताप का निषेध कर आपने प्रतीति को स्वीकार कर लिया । सो वह तो है ही, तब प्रकृति को नहीं मानने पर ताप का उपादान और निमित्त ब्रह्म हो जायेगा और तब ब्रह्म को ताप से, या अविद्या से आविल मानना पड़ेगा ।

हमारे विचार में सांख्य और वेदान्त मानवीय मूल्य-बोध की निगूढ़ समस्या के समाधान के प्रायः तुल्य-बल प्रयत्न हैं, कम से कम इनमें एक को दूसरे से सबल उतनी आसानी से नहीं कहा जा सकता । शंकर ने सांख्य का बल अनुभव तो किया किन्तु उसे उसकी अन्तर्दृष्टि में निहित नहीं मानकर उसकी श्रुति-सम्मतता की भ्रांत प्रतीति में माना और उसके तर्कों को इस आधार पर मात्र कल्पना माना कि वे श्रुत्यनुसारी नहीं हैं। यदि वे सांख्य को भी एक गंभीर अन्तर्दृष्टि के रूप में देखते तो वे उसके खंडन के बजाय उसकी अन्तर्दृष्टि का मर्म कहकर वैदान्तिक अन्तर्दृष्टि को एक अधिक समीचीन विकल्प के रूप में प्रस्तुत करते ।

पावर हाउस रोड, गुलाब बाग के पास,
उदयपुर ।

6

भारत में दर्शन की साम्प्रतिक स्थिति*

न० कि० देवराज

भारतीय दर्शन की साम्प्र तक स्थिनि को लेकर इधर तरह-तरह का विमर्श होता रहा है। पिछले दशक में विभिन्न विचारकों द्वारा लिखित निबन्धों के तीन ऐसे संग्रह प्रकाशित हुए जिनमें साम्प्रतिक भारतीय दर्शन को नयी गति देने का प्रयत्न किया गया। एक संकलन **इण्डियन फिलासफी टुडे** जो प्रस्तुत लेखक द्वारा सम्पादित था, सन् 1975 में प्रकाशित हुआ। उसकी भूमिका में वर्त्तमान दर्शन की स्थिति पर किञ्चित् विचार किया गया था। उसमें समकालीन भारतीय दार्शनिक चिन्तन के निदर्शन भी प्रस्तुत किये गये थे। ऐसे ही निदर्शन श्रीमती मार्गरेट चटर्जी द्वारा संपादित **कन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलासफी** सेकण्ड सीरीज़, में भी, जो सन् 1974 में प्रकाशित हुई, संगृहीत हुए थे। एक तीसरा संकलन अमेरिका स्थित प्रो० रामाराव पप्पू और प्रो० पुलिगंदला द्वारा सम्पादित सन् 1982 में दिल्ली से प्रकाशित हुआ जिसमें, जैसा कि उसके शीर्षक **इण्यिन फिलॉसफी पास्ट एण्ड प्रेजें.ट** से ज़ाहिर है, विशेष रूप में भारतीय दर्शन की अतीत धरोहर और वर्त्तमान स्थिति पर विचार किया गया। पिछले दशक (1972) में ही प्रो० सच्चिदानंद मूर्ति और प्रो० आर० राव द्वारा सम्पादित **करेण्ट ट्रेण्ड्स इन इण्डियन फिलॉसफी** ग्रन्थ भी निकला था; उसमें भी भारतीय दर्शन की वर्त्तमान स्थिति पर विचार किया गया था। निष्कर्ष यह कि समकालीन दार्शनिक या दर्शन के विद्वान् देश में दर्शन शास्त्र की स्थिति को लेकर किसी न किसी रूप में चिन्तित या असन्तुष्ट दिखायी पड़ते हैं।**

* दर्शन विभाग, भागलपुर विश्वविद्यालय में आयोजित संगोष्ठी में प्रस्तुत किया गया निबन्ध।

** अक्टूबर-दिसम्बर 1984 के "इंडियन फिलॉसफिकल क्वार्टर्ली" के समूचे अंक में वैचारिक स्वराज्य की समस्या पर विचार किया गया है।

किन्तु यह अन्तिम वक्तव्य स्थिति का पूरा विवरण नहीं है। आज भी हमारे देश में ऐसे परम्परावादी अध्यापकों और विचारकों की कमी नहीं है जो यह मानते हैं कि दर्शन के प्रश्न और समाधान स्वयं सत्य की भांति शाश्वत हैं, जिनका रूप युग-युग में वही रहता है। इस कोटि के विचारक यह भी कहते सुने जाते हैं कि जानने योग्य समस्त सत्य या सत्यों का निरूपण पहले ही हमारे ऋषि-मुनियों द्वारा किया जा चुका है। कुछ विद्वान् ऐसे भी हैं जिनके अनुसार हमारा एकमात्र काम पुराने दर्शनों की व्याख्या या पुनर्व्याख्या करना है, ऐसे ही विद्वान हैं जो भारतीय दर्शन एवं संस्कृति की व्याख्या अथवा पुनर्गठन करने वाले विवेकानन्द, गांधी, रमन महर्षि एवं श्री अरविन्द की शिक्षाओं और चिन्तनाओं में भारतीय दर्शन का चरम उत्कर्ष देखते हैं। उनकी दृष्टि में सम्भवतः प्रस्तुत संगोष्ठी की विशेष उपयोगिता एवं प्रासंगिकता नहीं है।

इसमें सन्देह नहीं कि स्वामी विवेकानन्द, लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी और श्री अरविन्द ने भारतीय विचारधाराओं एवं संस्कृति की पुनर्व्याख्या के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है; उनकी पुनर्व्याख्याओं में मौलिकता और युगोचित नवीनता का भी समावेश हुआ। किन्तु आज की दुनियाँ और स्वदेश का वातावरण भी इतनी तेज़ी से बदल रहे हैं कि नये औद्योगिक परिवेश में उक्त मनीषियों के मन्तव्य अपनी समग्रता में ग्राह्य और उपयोगी नहीं जान पड़ रहे हैं। इसका यह मतलब नहीं कि आज के परिवेश में हमारे देश के लिए प्राचीन भारतीय दर्शनों और उक्त नये व्याख्याताओं की प्रासंगिकता पूर्णतया समाप्त हो गयी है—किसी भी सभ्य देश की परम्परा उसके इतिहास में कभी भी पूरी की पूरी अप्रासंगिक नहीं बन जाती। प्रसिद्ध इतिहासकार और चिन्तक ई० एच्० कार ने अपनी पुस्तक **सोशलिज़्म इन वन कन्ट्री** (प्रथम भाग) में रूस और फ्रान्स की राज्य-क्रान्तियों पर विचार करते हुए प्रतिपादित किया है कि किस प्रकार उक्त देशों में मार्क्सवाद और जनतन्त्र की विचारधाराएं क्रमशः स्वदेशी परम्पराओं से प्रभावित और विकृत होती गयीं। उदाहरण के लिए रूस में स्तालिन की तानाशाही का क्रान्तिपूर्व की ज़ारशाही की मनोवृत्ति से घना लगाव रहा; वैसे ही फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति के बाद नेपोलियन का सम्राट् के रूप में कायाकल्प उस देश के पूर्ववर्ती सम्राट्-तन्त्र से सम्बन्धित था। वैसा ही कुछ पश्चिम से आयातित जनतन्त्र के साथ हमारे देश में हुआ है; हमारे शासितों और शासकों दोनों में पुराने राजतन्त्र और सामन्तशाही के संस्कार इतने प्रबल हैं कि यहाँ की धरती में जनतान्त्रिक मनोवृत्ति गहरी जड़ें नहीं जमा पा रही है। हमारा जातिवाद भी उक्त मनोवृत्ति के प्रसार और प्रचार में भयंकर बाधा बना हुआ है। हमारे देश की दूसरी बड़ी समस्या व्यापक भ्रष्टाचार है जो विकास एवं प्रगति के किसी भी प्रयत्न को कारगर नहीं होने देता।

अब हम दर्शन की विशेष चर्चा करें। दार्शनिक चिन्तन के कई स्रोत होते हैं जिनमें दो मुख्य हैं: एक, अपने देश तथा दूसरे देशों की ज्ञात परम्परा; और दूसरा, समकालीन जीवन-स्थिति। परम्परा के अन्तर्गत भी दो मुख्य तत्त्व रहते हैं, एक का सम्बन्ध ज्ञान के स्रोतों एवं प्रमाणीकरण के प्रकारों से होता है और दूसरे का मूल्य-दृष्टि के विविध रूपों से। परम्परा की

उक्त दोनों धाराओं में कभी मन्द और कभी तीव्र गति से परिवर्त्तन होता रहता है; यह परिवर्त्तन ज्ञानमीमांसा और मूल्यमीमांसा की समकालिक स्थिति में दिखायी पड़ता है।

पहले हम ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र का समीक्षण करें। प्राचीन एवं मध्ययुगीन भारत में प्रत्यक्ष और अनुमान, प्रमाण, प्रमा, और प्रामाण्य आदि के स्वरूप पर लम्बा चिन्तन हुआ। आश्चर्य की बात यह है कि उक्त समस्याओं में से किसी पर भी मतैक्य नहीं हो सका; न प्रमाणों के स्वरूप पर, न उनके द्वारा ज्ञापित प्रमेयों के स्वरूप पर। इसका मतलब यह है कि उक्त सारे प्रश्न और विषय अभी भी हमारे लिए चुनौती बने हुए हैं। इसके अलावा विज्ञान की चिन्तन-प्रणाली या प्रणालियों ने ('प्रणालियों' इसलिए कि भौतिक विज्ञानों तथा मानवीय विद्याओं की अन्वेषण-शैलियाँ कुछ अंशों में समान और कुछ में भिन्न होती हैं) दर्शन के ज्ञान-सम्बन्धी चिन्तनों को निश्चित रूप में नई चुनौतियाँ और प्रेरणायें दी हैं। विज्ञान का उदय और प्रसार मुख्यतः पश्चिम में हुआ; फलतः उसका प्रभाव वहाँ के दर्शनों पर विशेष रूप से परिलक्षित होता है। जहां प्लेटो, डेकार्ट, स्पिनोजा, लाइबनिज़ आदि दार्शनिक गणित से विशेष प्रभावित हुए वहां रसल, ह्वाइटहेड (और उनसे पूर्व कोंत तथा बर्गसाँ) तथा तर्कनिष्ठ अनुभववाद आदि विज्ञान या विज्ञानों से प्रभावित होते रहे हैं। फलतः हम देखते हैं कि आज के पश्चिमी दर्शन में विज्ञान-दर्शन का विशिष्ट स्थान बन गया है। अनेक बड़े वैज्ञानिक जैसे आइन्स्टाइन, एडिंग्टन, हाइज़ेनबर्ग आदि स्वयं भी जगत्-बोध को लेकर दार्शनिक समस्याएँ उठाते पाये जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि आज के भारतीय चिन्तक को स्वदेशी प्रमाण-मीमांसा के साथ-साथ आधुनिक वैज्ञानिक अन्वेषण-पद्धतियों तथा विज्ञान-दर्शन से भी प्रेरणा और प्रश्न ग्रहण करने पड़ेंगे।

मूल्य-बोध के क्षेत्र में अपने देश का सर्वाधिक योगदान आध्यात्मिक मूल्यों की मीमांसा से सम्बन्धित है। इसके विपरीत नीतिशास्त्र और राजनीतिदर्शन के क्षेत्रों में हमारी परम्परा की उपलब्धियाँ सीमित महत्त्व ही रखती हैं। इसका एक कारण यह भी है कि हमारे अपेक्षाकृत बड़े विचारक और दार्शनिक-आध्यात्मिक चिन्तक समाज, राज्य आदि की समस्याओं के प्रति उदासीन रहे; दूसरा कारण हमारे इतिहास में शासन से स्वतन्त्रता, समानता आदि की मांग के लिए क्रान्तियों का न होना है। इस दृष्टि से इंग्लैण्ड में संवैधानिक राजतन्त्र के लिए आन्दोलन और फ्रान्स तथा रूस की बड़ी क्रान्तियाँ वहां के सामाजिक-राजनैतिक चिन्तन का परिणाम और उसकी प्रेरक दोनों ही बनीं। यहां यह भी ध्यातव्य है कि उक्त कोटि के क्रान्तिकारी चिन्तन और आन्दोलन का मूल स्रोत, जैसा कि मार्क्सवादी विचारक कहते हैं.........उत्पादन के साधनों और उनसे निरूपित वर्ग-सम्बन्धों में घटित परिवर्त्तनों में था; यह भी द्रष्टव्य है कि आधुनिक यूरोप में उत्पादन के साधनों का परिवर्त्तन विज्ञान की प्रगति से निर्धारित होता रहा।

उक्त लम्बी भूमिका या सर्वेक्षण का उद्देश्य इस बात पर बल देना है कि आज के भारतीय विचारक के सामने ज्ञानमीमांसा और मूल्यमीमांसा दोनों क्षेत्रों की ओर से प्रखर चुनौतियां उपस्थित हैं; किसी भी सजग मस्तिष्क और समर्थ विचारक के लिए ये चुनौतियां सबल प्रेरणाएं बन सकती हैं और बननी चाहिएं।

हमने अभी तक तत्त्वमीमांसा का उल्लेख नहीं किया। बात यह है कि किसी भी प्रकार के तत्त्व-दर्शन की मूल भित्ति युग-विशेष की ज्ञान-मीमांसा और मूल्यबोध होते हैं, अतएव उन

क्षेत्रों में होने वाले परिवर्तन उसे निश्चित रूप से प्रभावित करते हैं। विश्व की रचना और उसके विकासक्रम के बारे में भौतिक विज्ञान, जीवशास्त्र आदि भी परिकल्पनाएं करते हैं जिनका असर दार्शनिक तत्त्व-मीमांसा पर पड़ता है। उदाहरण के लिए डारविन के विकासवाद ने, और सम्भवत: पश्चिम की बढ़ती हुई आर्थिक समृद्धि ने भी, विश्व की प्रयोजनवादी व्याख्याओं को प्रोत्साहित किया। पश्चिम में हेगेल के दर्शन पर और स्वदेश में रवीन्द्र और अरविन्द की जीवन-दृष्टियों पर उक्त स्थितियों का प्रभाव देखा जा सकता है। यही नहीं, विज्ञान आदि की प्रगति ने दर्शन के स्वरूप और क्षेत्र को भी पुन: परिभाषित करने की प्रेरणा दी है। आज हम दर्शन की इस सरल परिभाषा को, कि वह तत्त्व या सत् के स्वरूप का अन्वेषण है, भोलेभाव से स्वीकार करके नहीं चल सकते। निश्चित ही भौतिक सत् या यथार्थ का निरूपण, और भौतिक जगत् के आदि-अन्त, विकास आदि का अन्वेषण दर्शन का कार्य नहीं है। इसका मतलब यह नहीं कि दर्शन विज्ञान और उसके अन्वेषण के विषय भौतिक विश्व के प्रति उदासीन होता या हो सकता है। अन्तर यह है कि जहां प्राचीन काल में वैशेषिक और सांख्य जैसे दर्शनों के प्रणेता भौतिक जगत् को दर्शन का भी अन्वेष्य मानते थे वहाँ आज के दार्शनिक उस जगत् के बारे में विज्ञान के साक्ष्य को अधिक महत्त्व देते हैं। उनके अवधान का ज्यादा विषय भौतिक शास्त्र की अन्वेषण-प्रणाली बनती गयी है। आधुनिक युग की प्रारंभिक शताब्दियों में दार्शनिकों का गणित और विज्ञान की अन्वेषण-प्रणाली पर इसलिए ध्यान गया क्योंकि उन्हें वहाँ **निश्चत और विश्वसनीय** ज्ञान के निदर्श मिलने का आश्वासन था। दर्शन के क्षेत्र में निरन्तर मौजूद रहने वाला मतभेद उसकी चिन्तन-प्रणाली के प्रति आशंकाएं उत्पन्न करने वाला जान पड़ता था। दर्शन की वैसी स्थिति आज भी बनी हुई है। आज भी पश्चिमी देशों में वैज्ञानिक अन्वेषण-पद्धति के प्रति, जिस पर हमारी औद्योगिक सभ्यता की प्रगति निर्भर है, विशेष आदर का भाव और उसमें निरन्तर बढ़ती हुई अभिरुचि और उसके विश्लेषण की प्रवृत्ति पायी जाती है। किन्तु, दूसरे विचारक वैज्ञानिक अन्वेषण-विधियों और उनकी सीमाओं का अनुशीलन इस दृष्टि से भी करते हैं कि वे विधियाँ हमारे मूल्यबोध के संदर्भ में कहां तक प्रामाणिक और उपयोगी हो सकती या नहीं हो सकती हैं। स्वयं हमारा विचार है कि हर क्षेत्र की अन्वेषण-प्रणाली उसकी विषय-वस्तु की विशिष्टता से निरूपित और निर्धारित होती है। उदाहरण के लिए भौतिक विज्ञान और प्राणिशास्त्र की अन्वेषण-विधियाँ पूर्णतया अभिन्न नहीं हैं। इस दृष्टि से मानवीय शास्त्र भौतिक विज्ञानों से और अधिक भिन्न हैं; वैसे ही तथ्य-परक शास्त्रों और मूल्यान्वेषी या मूल्य-परक शास्त्रों में कई तरह का अन्तर रहता है।

यदि हम वैशेषिक और सांख्य का अपवाद करदें तो कहना होगा कि भारतीय दर्शन का मुख्य विषय आत्म-बोध और आत्म-कल्याण रहे हैं। आत्मकल्याण यानी कैवल्य या मोक्ष। मोक्ष का सन्धान सांख्य दर्शन का भी लक्ष्य है। किन्तु वेदान्त कहे जाने वाले दर्शनों में प्रतिपाद्य के रूप में भौतिक जगत् का तिरस्कार किया गया; वहां दर्शन का एकमात्र विषय आत्मज्ञान और मोक्ष अथवा आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध बन गये। इसीलिए कहा जाता रहा है कि भारतीय दर्शन आध्यात्मिक या अध्यात्मप्रधान है। भारतीय दर्शन के इस रुझान ने हमारे चिन्तकों को जहां एक ओर भौतिक जगत् के अन्वेषण के प्रति उदासीन बनाया, जिसके फलस्वरूप यहां आधुनिक विज्ञान का उदय नहीं हो सका, वहां उसने हमें नैतिक-सामाजिक

चिन्तन और राजनीति-दर्शन से भी विमुख कर दिया। जैसाकि हमने संकेत किया था, हमारे समाज की वर्तमान नैतिक दुरवस्था और अस्पृश्यतावाद, जातिवाद आदि कुरीतियों का एक महत्त्वपूर्ण कारण उक्त विमुखता है और रही है।

आज हम इस बात को लेकर चिन्तित हैं कि हमारे देश में सशक्त मौलिक दर्शन का उदय नहीं हो रहा है। विगत शताब्दी के कुछ दशकों और बीसवीं शती में हमारे विचारकों ने बहुत कुछ प्राचीन दर्शनों का पुनराख्यान भर किया है। इस दृष्टि से वर्तमान शती में सबसे अधिक योगदान महात्मा गांधी का है जिन्होंने थोथी, अप्रतिबद्ध आध्यात्मिकता के स्थान पर नैतिक आचरण और न्याय-भावना के प्रति प्रतिबद्धता का न केवल उपदेश किया अपितु उसे व्यापक सामाजिक-राजनैतिक धरातल पर क्रियात्मक रूप भी दिया। गाँधीजी ने जहां भारतीय राजनीति और स्वतन्त्रता-संग्राम को नया मोड़ दिया वहां उन्होंने आरणविक युद्ध की विभीषिका से त्रस्त और जहां-तहां अन्याय की शिकार मानवता के लिए संघर्ष का एक नया, उदात्त अस्त्र भी दिया। आज पश्चिम के अनेक यथार्थवादी विचारक भी गांधी जी के सत्याग्रह को बीसवीं शती का एक विशिष्ट प्रयोग और महत्त्वपूर्ण आविष्कार स्वीकार कर रहे हैं।

प्रत्येक महत्त्वपूर्ण दर्शन की परिकल्पना के पीछे उसके प्रणेता और प्रतिष्ठाता का सशक्त व्यक्तित्व रहता है। वैसे व्यक्तित्व का एक लक्षण है अपनी प्रतीति, जीवन-बोध या जीवन-दृष्टि के प्रति प्रखर, उत्कट लगाव और संसक्ति; उसकी दूसरी विशेषता अपने बोध और प्रतीति को सशक्त अभिव्यक्ति देने की क्षमता होती है जिसका सम्पादन लम्बी साधना या तैयारी माँगता है। गांधीजी के मानसिक गठन में अन्याय के प्रति तीव्र आक्रोश का भाव और उससे लड़ने के लिए सात्विक उत्साह और अपेक्षित ऊर्जा का सन्निवेश था; साथ ही वे एक कर्मयोगी सन्त थे जो निरन्तर निर्वैयक्तिक सत्य और उसकी उपलब्धि के लिए निष्काम मनोवृत्ति एवं चित्त-शुद्धि का संधान करते रहे। विचारक के रूप में भी उन्होंने सत्य और अहिंसा को लेकर जीवनव्यापी चिन्तन किया, इतना सूक्ष्म चिन्तन कि वे अहिंसा आदि से सम्बन्धित नितान्त समृद्ध भारतीय चिन्तन-परम्परा में भी नये तत्त्व जोड़ सके। जहां तक सत्याग्रह की संघर्ष-प्रणाली का प्रश्न है, वह गांधी की विश्वसंस्कृति को एक नितान्त मौलिक देन है।

हमने यहां गांधी जी का लम्बा-चौड़ा उल्लेख खास मतलब से किया है। डेविड ह्यूम ने कहीं कहा है कि जीवन के क्रियाकलापों की प्रेरक शक्ति आवेग-आवेश है, न कि बुद्धि। सम्भवत: व्यक्तित्व के उक्त दो घटकों, अर्थात् बुद्धि और आवेग को एक-दूसरे से जुदा करना सम्भव नहीं है। सच यह है कि बुद्धि उस तक पहुंचने का उपकरण है जिसे हम अपने सम्पूर्ण प्राण-प्रवेग से पाना या आत्मसात् करना चाहते हैं। जहां तक हमें दिखायी देता है, दार्शनिक जिज्ञासा और अन्वेषण के दो मुख्य विषय हैं, एक ज्ञान या प्रामाणिक अवगति, और दूसरा एक या अनेक मूल्यों का स्वरूप। जहां एक ओर सत्य, न्याय, सौन्दर्य आदि मूल्य हमारी जिज्ञासा के विषय हैं वहां दूसरी ओर उनका साक्षात्कार और उपलब्धि हमारे प्रयत्नों का चरम लक्ष्य है। दर्शन मुख्यतया विविध मूल्यों के स्वरूपबोध का अस्त्र है। श्रेष्ठ दार्शनिक बनने की आवश्यक शर्त है एक या दूसरे मूल्य की उपलब्धि या अभिव्यक्ति में गहरी संसक्ति। अच्छा दार्शनिक बनने के लिए यह महत्त्वाकांक्षा पर्याप्त और शायद जरूरी भी नहीं है कि लोग हमें दार्शनिक

समझें और मानें। ज़रूरी है मूल्य-विशेष के प्रति जीवनव्यापी आसक्ति या संसक्ति, जैसीकि आइन्टाइन जैसे चिन्तकों में सत्य या ज्ञान के प्रति और गाँधी में सत्य और अहिंसा की साधना, न्याय की प्रतिष्ठा और अन्याय के विरोध के लिए पायी जाती है।

अब यहां हम दर्शन की सामाजिक प्रासंगिकता अथवा दर्शन और समाज के सम्बन्ध को समझाने की स्थिति में पहुँचते हैं। मूल्यों के प्रति ललक और उनका अनुसंधान दार्शनिक मनस् की ही विशेषता नहीं है, वह मानव मात्र का स्वभाव है। उक्त ललक और अनुसंधान सर्जनशीलता की आवश्यक शर्त है। हम कहना चाहते हैं कि वैसी सर्जनशीलता सचेत मानव-जीवन की व्यापक विशेषता है। आप अपने जीवन के किसी क्षण, प्रयत्न अथवा क्रियाकलाप का सूक्ष्मता से अवलोकन-परीक्षण करें; आप पायेंगे कि आप निरन्तर किसी न किसी वर्त्तमान या कल्पित मूल्यस्थिति से जुड़कर रह और चल रहे हैं। मीमांसकों की उक्ति है : "प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते—प्रयोजन से निरपेक्ष मन्द-बुद्धि व्यक्ति भी कार्यरत नहीं होता।" जीवशास्त्र और इन्द्रियशास्त्र बतलाते हैं कि हमारे शरीर और उसके विभिन्न अवयवों की क्रियाएं भी अज्ञात प्रयोजनों की पूर्ति के लिए होती हैं—-अज्ञात यानी हमारे सचेतन बोध के बहिर्भूत। वस्तुत: अन्तिम विश्लेषण में, जीव-विकास की प्रेरक शक्ति प्रयोजन-पूर्ति की बढ़ती हुई क्षमता ही है। जीवधारियों के बीच मनुष्य अपने विभिन्न प्रयोजनों की अधिक सचेत अवगति लेकर चलता है। इस दृष्टि से विभिन्न मनुष्यों में भिन्नता पैदा करने वाली दो चीज़ें हैं। मूल्य अनेक हैं, और विभिन्न मनुष्य अलग-अलग मूल्यों में कम-बढ़ दिलचस्पी रखते हैं। मूल्यों के पारस्परिक सम्बन्ध और आपेक्षिक महत्त्व में अन्तर्दृष्टि देना दर्शन का विशिष्ट कार्य समझा जा सकता है। यहां यह ध्यातव्य है कि ज्ञान या सत्य के भी अनेक प्रकार होते हैं, और इन ज्ञानों या सत्यों का जीवन के विभिन्न मूल्यों से अलग-अलग किस्म का लगाव होता है। उदाहरण के लिए कृषि-विज्ञान, तकनीकी-ज्ञान, चिकित्सा-विज्ञान आदि से हमें जो जानकारियां प्राप्त होती हैं उनके अलग-अलग उपयोग होते हैं। हमारे मत में दार्शनिक अनुसंधान का विषय मुख्यत: वे मूल्य हैं जो मानव-व्यक्तित्व के गुणात्मक विकास में सहायक होते हैं। इस सम्बन्ध में हमने अन्यत्र लम्बा विवेचन और विचार किया है।

हमारे देश में वैयक्तिक से अधिक सामाजिक नैतिकता को समझने और बरतने की ज़रूरत है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में यहां मूल्यों को लेकर अराजकता का वातावरण पाया जाता है। कहने को अधिकांश लोग ईश्वर, कर्म-सिद्धान्त, परलोक आदि को मानते हैं, किन्तु ये सारे विश्वास जन-नेताओं तथा जनता दोनों के व्यवहार को नियन्त्रित या प्रभावित करते नहीं दीख पड़ते। देश के लोगों की उक्त मान्यताओं में वैसी पक्की आस्था नहीं दीखती जैसी प्रत्यक्ष-गम्य धन, पद, शक्ति आदि के महत्त्व में। (आज हम बेकारी, जातिवादी पक्षपातों आदि से पाये कष्टों के लिए सरकार और समाज को उत्तरदायी ठहराते हैं न कि पूर्व जन्म के कर्मों को; वैसे ही हम प्राय: रोग से छुटकारा पाने के लिए ईश्वर-प्रार्थना न करके डॉक्टर के पास दौड़ते हैं।) देश में आज भी प्राचीन संस्कृति और आस्थाओं की दुहाई देने वालों की कमी नहीं है, पर ऐसे लोगों के व्यवहार में भी उनका प्रभाव दिखायी नहीं पड़ता। यहां राजनीतिक नेता जीवन के अन्तिम क्षण तक पद और शक्ति के लिए भला-बुरा सब-कुछ करने को तैयार रहते

दीखते हैं; जीवन के किसी भी चरण में उनमें किसी तरह की वैराग्य-भावना का स्फुरण नहीं होता, मानो वानप्रस्थ और सन्यास उनके लिए नहीं हैं। किन्तु वही नेता, जिनमें बौद्धिक नेताओं का भी समावेश है, प्राचीन संस्कृति का गुणगान करते नहीं अघाते। जनता कथनी और करनी के इस अन्तर को सहज ही देख और पकड़ लेती है और तब 'यथा राजा तथा प्रजा' के न्याय के अनुसार बरतती है।

हम नहीं समझते कि सूक्ष्म दार्शनिक चिन्तन साक्षात् रूप में जनता के व्यवहार को प्रभावित कर सकता है। साधारण नागरिक को न आस्थाओं का तार्किक आधार खोजने-बताने की ज़रूरत महसूस होती है न पुरानी रूढ़ियों के तार्किक परीक्षण की। वस्तुतः साधारण जनता कथित बड़े लोगों के व्यवहार से अधिक प्रभावित होती है और उनके अनुकरण की कोशिश करती है। ज़ाहिर ही हमारे विभिन्न श्रेणियों के नेता, उस दृष्टि से, अनुकरणीय नहीं रह गये हैं। देश के वैयक्तिक-सामाजिक जीवन में वर्त्तमान अराजक स्थिति का मूल कारण यही है।

वास्तव में दर्शन मुख्यतया बुद्धिजीवियों के लिए, अर्थात् उनकी मन-बुद्धि का परिष्कार करने के लिए, होता है। ये बुद्धिजीवी विभिन्न प्रकार के चिन्तकों और जनता के बीच सेतु का काम करते हैं। किसी भी देश और समाज में सशक्त रूप में मौलिक विचारक कम ही होते हैं। श्रेष्ठ दार्शनिक विचारक हम उसे कहेंगे जो सब प्रकार के ज्ञान (मूल्य-बोध भी एक प्रकार का ज्ञान ही है) के आधारों की नये सिरे से खोज करता है। इस खोज या अन्वेषण का युग की विकसित साक्ष्य भावना से सम्बन्ध होता है। तर्कनिष्ठ अनुभववाद जैसे आन्दोलनों के बाद हमारी उपयुक्त साक्ष्य (एवीडेन्स) की माँग और कसौटी दोनों में अतिरिक्त प्रखरता आ गयी है। वर्त्तमान युग के इस मनोभाव को जो नहीं समझता वह दर्शन के रचनात्मक पुनर्गठन का कठिन कार्य नहीं कर सकता। इस दृष्टि से श्री अरविन्द का दर्शन बीसवीं से अधिक उन्नीसवीं अर्थात् हेगेल और ब्रैड्ले के युग की उपज जान पड़ता है; और इस दृष्टि से गाँधी के नैतिकता सम्बन्धी विचार और उनका सत्याग्रह अधिक अनुभवगम्य जान पड़ते हैं। गाँधी जी के आचरण के अलावा उनके विचारों की अनुभवगम्यता भी जन-आकर्षण का एक प्रमुख कारण थी। किन्तु गाँधी जी के कुछ विचार, जैसे संतति-निरोध के लिए ब्रह्मचर्य का उपदेश, असम्भव कोटि की आदर्शवादिता से संयुक्त होने के कारण लोक-ग्राह्य नहीं बन सके। वैसे ही उनका मशीनों का विरोध वैज्ञानिक युग की क्षमताओं और मांगों के विपरीत होने के कारण प्रभावी नहीं हो सका।

वास्तव में प्रत्येक क्षेत्र में—नैतिकता के क्षेत्र में उतना ही जितना कि ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में—दर्शन दूर तक युग के प्रचलित रुझानों एवं प्रवृत्तियों के स्पष्टीकरण एवं पुनर्गठन का अस्त्र होता है; वह उक्त रुझानों या प्रवृत्तियों को नकार कर आगे नहीं बढ़ सकता। आज का दार्शनिक न विज्ञान और उसके द्वारा दी गयी सुविधाओं को नकार सकता है, न वैज्ञानिक मनोवृत्ति को। आज के युग का मूल स्वर इहलोकवाद है; आधुनिक मनुष्य किसी परलोक को ध्यान में रखकर नहीं बरत सकता। एक अर्थ में परलोक को नकारना और किसी विश्व-नियामक ईश्वर में आस्था रखना ये दोनों चित्त-वृत्तियां परस्पर-विरोधी हैं। आज बहुत कम लोग हैं जो परलोक के बारे में सोचते और मरणोत्तर बुरी गति से डरते हैं; अनुमान यह है कि ऐसे लोगों के जीवन में ईश्वर का विश्वास एक प्रेरक शक्ति के रूप में उपस्थित नहीं है।

अधिकांश जन देवी-देवताओं और स्वयं ईश्वर को भी लौकिक शासकों की अनुरूपता में कल्पित करके स्तुति द्वारा प्रसन्न और दान-पुण्य की घूस द्वारा तुष्ट करने की कोशिश करते हैं। ऐसे वातावरण में लोगों से यह आशा करना कि वे जीवन-स्तर बढ़ाने के युग-धर्म की उपेक्षा करके प्राचीन वैराग्यवाद को अपनायेंगे, दुराशा मात्र है। आज यदि दर्शन नया मूल्य-बोध देते हुए जन-जीवन को सचमुच प्रभावित करना चाहता है तो उसे युगीन प्रवृत्तियों को कोसने या नकारने की व्यर्थ कोशिश न करके उनके नियमन के आधारभूत सिद्धान्तों और तदनुरूप साधनों की कल्पना और निर्देश करना होगा। युगीन मनोवृत्तियों के विरोध में खड़े होकर प्राचीन आदर्शों की दुहाई देते रहना दार्शनिक अकर्मण्यता का लक्षण है, न कि समझदारी और विवेक का।

अन्त में हम यह दुहरा दें कि दर्शन के क्षेत्र में सचमुच नया, उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण काम करने की यह आवश्यक शर्त है कि हममें सब प्रकार के चिन्तन के लिए ज़रूरी संशय-वृत्ति और मानव-जीवन को उच्चतर धरातल पर प्रतिष्ठित देखने की उत्कट लालसा सक्रिय रूप में मौजूद हो। इस दृष्टि से हम एक ओर नागार्जुन, धर्मकीर्ति और श्रीहर्ष को आदर्श मानकर चल सकते हैं और दूसरी ओर बुद्ध और गांधी को। सम्भवतः यूनानी सन्त विचारक सुकरात के व्यक्तित्व में उक्त दोनों ही वृत्तियों का मणि-कांचन योग हुआ था।

52, बादशाह नगर, लखनऊ.

7

शान्ति का अन्वेषण*

के० सच्चिदान्द मूर्ति

वेदान्त और बौद्ध दोनों दर्शनों के लिए मैत्री और करुणा उच्चतम मूल्य है। ये दोनों दर्शन अद्वेष और अहिंसा के आचरण पर बहुत बल देते हैं। किन्तु प्रश्न उठता है कि क्या वास्तव सामाजिक परिस्थितियों में राजनीतिक व्यवहार वध, उत्पीड़न, पराभव, तथा दुःख पाना और दुखःदेना के बिना सम्पन्न हो सकता है? आक्रमणात्मक और अधर्मंमूलक युद्धों की हिन्दु, बौद्ध और जैन सभी धर्म-ग्रंथों ने निन्दा की है। किन्तु उन्हें यह स्वीकार करना पड़ा है कि बहुत बार आत्मरक्षा के लिए धर्मयुद्ध करना अनिवार्य हो सकता है और यह दोनों पक्षों के लोगों के प्रति मैत्री और करुणा का भाव त्यागे बिना संभव हो सकता है, और इस प्रकार दोनों पक्षों में जीवन-हानि को न्यूनतम किया जा सकता है। **गीता, धर्मशास्त्र**, बौद्ध धर्म-ग्रंथ **सद्धर्म-स्मृत्युपस्थान-सूत्र**, बृहत्तर **गंडव्यूह, महासन्निपात-क्षितिगर्भदशचक्र सूत्र** तथा **महासत्यक निर्ग्रन्थपुत्र व्याकरण-सूत्र** इन सब का यही कथन है और यही हेमचन्द्र आदि के ग्रंथों में प्रतिपादित जैनमत भी है। संक्षेप में, उन्होंने यह अनुभव किया था कि कुछ अवस्थाओं में मानवता और न्याय की रक्षा के लिए युद्ध अनिवार्य हो जाता है।

किन्तु बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में महात्मा गांधी ने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया कि किसी देश को पूर्ण निरस्त्रीकरण का साहस दिखाना चाहिए, जिसका अनुसरण अन्य देश क्रमशः करेंगे किन्तु जिसके अनुसार इसका अर्थ होगा कि कोई जाति ऐसा तभी कर सकेगी यदि उसकी कोई साम्राज्यवादी आकांक्षाएं नहीं हों और न भौतिक समृद्धि की अनियंत्रित लालसा हो। उनकी कल्पना थी कि ऐसी हिंसा से अत्यन्त विरहित जाति न तो हिंसा का उत्तर हिंसा से देगी और न आक्रमण के सामने आत्मसमर्पण ही करेगी। उनका विश्वास था कि "सच्ची अहिंसा के सामने आक्रमण का कोई भी अस्त्र, फिर चाहे वह परमाणु-बम ही क्यों नहीं

* मास्को तथा बर्लिन में जून 1985 में दिए एक व्याख्यान के कुछ अंशों का अनुवाद।

हो, प्रभाव-हीन होगा।" "अन्यथा अनिवार्य सर्वनाश से बचने का दूसरा कोई भी उपाय नहीं है सिवाय अहिंसा को, उसके सब परिणामों के साथ, साहस और निरपेक्षभाव से स्वीकार करने के।" गांधीजी की धारणा थी कि अहिंसक व्यक्ति के लिए हिंसा में परोक्ष रूप से भाग लेना प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने से कहीं अधिक बुरा है। उनके अनुसार, आंशिक रूप से हिंसक समाज के सदस्य अहिंसक व्यक्ति के लिए इस आशा से सेना में भर्ती होना अच्छा है कि वह इस प्रकार हिंसा को नियंत्रित रख सकेगा और अपने साथियों का हृदय-परिवर्तन कर सकेगा, बजाय घर पर बैठकर यह माला जपने के, कि उसका देश दूसरे देश को पराजित और नष्ट कर दे। जो लोग सैनिक आधारों पर गठित राज्य का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से समर्थन करते हैं वे पाप में सहभागी होते हैं, फिर वे चाहे स्वयं सेना में भर्ती हों और चाहे नहीं हों।"

गांधीजी ने लिखा कि, अहिंसा के उपासक को दो देशों के बीच युद्ध समाप्त कराने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए। किन्तु यदि वह ऐसा नहीं कर सकता, यदि उसके पास युद्ध का विरोध करने की सामर्थ्य और साहस नहीं है तो वह उसमें भाग ले सकता है, और तब भी वह अपने को, अपने देश को, और सम्पूर्ण संसार को सच्चे मन से युद्ध से बचाने का प्रयत्न कर सकता है।"

× × ×

युद्ध के सम्बन्ध में वेदान्तिक, बौद्ध, गान्धीय दृष्टिकोण बहुत कुछ वैसे ही हैं जैसे कार्ल-जास्पर्स और टीलहार्ड डि चार्डिन के हैं। जास्पर्स का कहना है कि अणु-शस्त्रों के इस युग की मानवीय परिस्थिति मनुष्य के पुनर्जन्म की अपेक्षा करती है। यदि मनुष्य की नैतिक तथा राजनीतिक वस्तुस्थिति नहीं बदलती है तो वह भौतिक रूप से समाप्त हो सकता है। मनुष्य का स्वरूप स्वातन्त्र्य है और अपनी इस अतिक्रामिता के आधार पर वह अपने को तथा संसार को बदल सकता है। समकालीन राजनीतिक चेतना को "आन्तरतः सक्रिय, प्रकाशात्म, तथा परिवेष्टनात्मक (एन्कम्पासिंग) विचार से युक्त व्यक्ति उत्तरदायित्वपूर्ण आन्तर कर्म के साथ तभी बदल सकता है जब मानव-समाज मानवोचित जीवन को सिद्ध कर ले। जास्पर्स का कहना है कि केवल इस प्रकार के मनुष्य ही इस प्रकार के कार्य कर सकते हैं जो कार्य आणविक विनाश को रोक सकते हैं। दूसरी ओर टीलहार्ड डि चार्डिन इस कारण आशावादी है क्योंकि उसे विश्वास है कि आणविक अस्त्रों की अत्यधिक विनाशक शक्ति के कारण मनुष्य इनके प्रयोग में प्रवृत्त नहीं होगा। उसके अनुसार, यह संभव है कि वह ऐसे अनुसन्धान में प्रवृत्त हो जाय जो जीवन की शक्तियों के उनकी चरमता तक अन्वेषण के रूप में निष्पन्न हो। किन्तु यह तभी संभव है यदि वह फाउस्टीय के बजाय ईसाई मानसिकता का वरण करे।

किन्तु यहां प्रश्न हो सकता है कि, आणविक शस्त्रों ने जिस प्रकार का संकट उत्पन्न किया है वह मूलतः नये प्रकार का है। ये शस्त्र परम्परागत शस्त्रों के जैसे नहीं हैं। अणु-युद्ध इस प्रकार नहीं लड़ा जा सकता कि इसमें एक पक्ष जीत जाय और वह उस विजय का सुखोपभोग करने के लिए जीवित रह सके। क्योंकि यह युद्ध या तो अनिर्णीत ही समाप्त होगा अथवा दोनों युयुत्सु-पक्षों के विनाश में परिणत होगा। यदि इस युद्ध में कोई देश विजयी रहता ही है तो उसकी वह विजय नितान्त अनिश्चयात्मक होगी और परिणामतः वह सार्वभौम प्रभुत्व जैसी कोई स्थिति नहीं पा सकता; बल्कि वह युद्ध के परिणामस्वरूप अणु-शस्त्रों से रहित देशों की

तुलना में बहुत क्षीण हो जाएगा। किन्तु वास्तव में अधिक संभावना यही है कि अणु-युद्ध का परिणाम पृथ्वी पर सर्वनाश, जीवन की समाप्ति तथा रेडियम-सक्रियता-जन्य पूर्ण अव्यवस्था और क्षय होगा। कहा जा सकता है कि इन भयावह संभावनाओं के ज्ञान तथा तटस्थ देशों की अनुपेक्षणीय विद्यमानता के कारण ही परस्पर आतंक पर संतुलित एक सशंक शान्ति बनी हुई है। किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि आज भी आणविक युद्ध-नीति इस अयुक्तियुक्त धारणा पर प्रतिष्ठित है कि युद्ध में एक पक्ष की विजय होगी। ये शक्तियां अणु-आयुधों की सर्वनाश-कारी शक्ति और इनसे बचाव की असंभवता को देखते हुए कम से कम पारस्परिक अणु-निशस्त्रीकरण के लिए भी क्यों सहमत नहीं हो पाती हैं, यह एक आश्चर्य की बात है। दोनों पक्षों में दूरदर्शिता कब तक बनी रहेगी और वे कब तक संयत बने रह कर एक-दूसरे को जीवित रहने देंगे ? ऐसा क्यों है कि अणु-शस्त्र-सज्जित देशों की जनता इस खतरे के प्रति सजग नहीं है ? ऐसा क्यों है कि सभ्यता और संस्कृति के, वास्तव में संपूर्ण जीवन ही के, पूर्ण नाश का खतरा उन्हें अधिक ठोस रूप से इसे रोकने के लिए कार्य-प्रवृत्त नहीं करता ? क्यों अणु-शस्त्र राजनीतिक नेताओं के चिन्तन और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को मूलतः परिवर्तित नहीं कर सके ?

इसका एक उत्तर मनोवैज्ञानिक यह देते हैं कि दफ़तरशाही उद्योगवाद (ब्यूरोक्रेटिक इंडस्ट्रियलिज़्म) ने मनुष्य को वस्तु में रूपान्तरित कर दिया है और परिणामतः वह जीवन को प्रेम नहीं कर मृत्यु की ओर आकृष्ट होता है। इससे वह आणविक खतरे के प्रति संवेदनाशून्य हो गया है। ये समाज-वैज्ञानिक, अन्य बातों के अतिरिक्त, इस दफ्तरशाही उद्योगवाद के स्थान पर मानवतावादी समाजशास्त्र की स्थापना का सुझाव देते हैं। इस प्रकार इस मत के अनुसार आणविक खतरे और उसके निवारण के कारण इस ऐतिहासिक युग के सामाजिक सम्बन्धों में ही निहित हैं। यदि यह सच है तब जबतक देशों के अपने भीतरी सामाजिक सम्बन्धों में समाजवादी सिद्धान्त के अनुसार परिवर्तन घटित नहीं किया जाता तब तक अन्तर्राष्ट्रीय संबन्ध परिवर्तित नहीं हो सकते। अन्तर्राष्ट्रीय शांति राष्ट्रों की अपनी भीतरी शान्ति पर निर्भर करती है। यदि जातियां अपने-आपमें संतुष्ट और सुरक्षित अनुभव करती हैं, जो कि केवल तभी संभव है यदि उनकी समाज-व्यवस्था न्यायसंगत और समाजवादी है और वे दूसरे समाजों का शोषण और दमन नहीं करना चाहतीं, केवल तभी शाँति की स्थापना भी संभव है। यहां मार्क्सवाद का योगदान महत्त्वपूर्ण है। **मानव-बुद्धि के लिए, जो कि इतिहास की एक उपज है, यह आवश्यक नहीं है कि वह सामाजिक यथार्थ को यथाप्राप्त रूप में स्वीकार करे, बल्कि उसके लिए यही उचित है कि वह उसे अपने आदर्शों के अनुसार रूपान्तरित करे और इसे विवेक-सम्मत बनाए। वह इतिहास के नियमों का स्वरूप समझकर इन नियमों को यथेच्छया प्रयुक्त कर सकता है।** मानव के लिए यह अनिवार्य नहीं है कि वह किसी पूर्वप्राप्त असह्य स्थिति को अपना भाग्य माने, क्योंकि **वह अपने युक्ति-तर्क से नियोजित कार्यों द्वारा बाह्य जगत् को, और परिणामतः अपने आपको भी, बदल सकता है।** ज्ञान के द्वारा मनुष्य अनिवार्यता (नेसेस्सिटी) को युक्ति (रीज़न) के अधीन कर सकता है और अपने इतिहास का स्वयं सर्जन कर सकता है। *मार्क्सवाद के अनुसार, ज्ञान-मूलक कर्म सामाजिक यथार्थ तथा मानव-प्रकृति को अपने आदर्शों के अनुसार बदल सकता है।*

यह विचार हमारे देश के प्राचीन नीति-चिन्तन के विपरीत नहीं है। अथर्ववेद पृथ्वी तथा द्यु की विजय करने की प्रेरणा देता है तथा ईशोपनिषद् मनुष्य को सदैव कर्मरत रहने का परामर्श देता है। महाभारत तथा हमारे अन्य नीति-ग्रन्थ मनुष्य को निरन्तर अपने जीवन की परिस्थितियों को सुधारने की प्रेरणा देते हैं। मनुष्य के दृढ़ तथा युक्तिमूलक प्रयत्न के सामने कोई बाधा टिक नहीं सकती, वह उससे जो भी चाहे सिद्ध कर सकता है। "सब दैवाधीन है ऐसा केवल कायर मनुष्य ही कहते हैं; दैव को मार कर अपनी शक्ति से कार्य करना चाहिए।"[1] "बुद्धिमान् और वन्दनीय चरित्र वाले व्यक्ति पौरुष को ही महत् मानते हैं। दैव को केवल पौरुष करने में असमर्थ क्लीब लोग ही स्वीकार करते हैं।"[2] इतना ही नहीं, मनुष्य की प्रवृत्ति बदली जा सकती है, वह आसुरी से दैवी और तामस् तथा राजस् से सात्विक बनायी जा सकती है। वेदान्त तथा बौद्ध मत ने कभी भाग्यवाद, निराशावाद या नियतिवाद को स्वीकार नहीं किया और न ही निष्क्रियावाद को स्वीकार किया।

× × ×

यह द्रष्टव्य है कि युद्ध-विरत संसार अपने-आप से साम्यात्मक नहीं होता और न आणविक खतरे की समाप्ति आर्थिक न्याय की स्थापना-प्रक्रिया में गति ला सकती है। जब तक विभिन्न जातियों और वर्गों में सामाजिक-आर्थिक स्तर-भेद है और कुछ देशों में अपार विपन्नता है तब तक वास्तव शान्ति की स्थापना असंभव है। एक भूखा आदमी अतिक्रामी प्रज्ञा या अन्तर्दृष्टि का स्मरण, मनन, या विकास नहीं कर सकता, जैसा कि श्वेतकेतु और बुद्ध दोनों ने पाया था। छान्दोग्य उपनिषद् के शब्दों में, "पहले भोजन करो, तब तुम कुछ समझोगे। जब कोई भूखा होता है तब उसकी प्रज्ञा नष्ट हो जाती है।"[3] विपन्न और तिरस्कृत व्यक्ति चित्त-शान्ति नहीं पा सकता। इस तथ्य का बोध सहज ही इसमें यह सन्देह उत्पन्न कर देता है कि क्या विश्वभ्रातृत्व, सर्वहित-रति, तथा अहिंसा एक अन्याय-मूलक, विपन्न, क्रूर तथा दमनकारी समाज में संभव हैं? क्या इसके लिए उसकी शक्ति और अधिकारों की संरचना में आधारभूत परिवर्तन आवश्यक नहीं है? मैं अल्बर्ट श्वैट्ज़र से पूर्णतः सहमत हूं कि अहिंसा के आचरण का विधान मनुष्य के आध्यात्मिक इतिहास में महानतम घटना है, यह एक अद्भुत अन्तर्दृष्टि है, जो इस बात की द्योतक है कि नैतिक बोध कितना अपार और अथाह हो सकता है। किन्तु क्या उच्चतम स्तर की अहिंसा भी केवल यह अपेक्षा करती है कि अफ्रीका के कोढ़ियों की सेवा-शुश्रूषा मात्र पर्याप्त है और उन सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों के लिए कुछ करने की आवश्यकता नहीं है जो परिस्थितियां इस कोढ़ की कारण हैं? **क्या "अस्पृश्यों" की न्यूनतम आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति, और उनके तथा "स्पृश्यों" के बीच विद्यमान विशाल आर्थिक अन्तर को समाप्त करने के लिए कुछ करने का प्रयत्न नहीं करके उनके लिए मन्दिरों तथा अन्य सार्वजनिक स्थानों को खोल देने मात्र को उच्चतम अहिंसा कहा**

1. दैवं हि दैवमिति का पुरुषाः वदन्ति। दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्म शक्त्या।
2. धीमन्तो वन्द्यचरिताः मन्यन्ते पौरुषं महत्। अशक्ताः पौरुषं कर्तुं क्लीबाः दैवमुपासते।
3. अशान, अथ मे विज्ञास्यसीति; यदेव स्यादनावृत्तं तदस्य प्रज्ञा स्रवति। (VI, 3, 7)

जा सकता है ? यह नितान्त सन्देहास्पद है कि एक हिंसात्मक समाज में अहिंसा विजयी हो सके । और हिंसक समाज वह है जो विपन्न, मूढ़, क्षुधातुर, रोग-ग्रस्त और पद्दलित है ।

× × ×

रोमां रोलां युद्ध के दिनों में इस निष्कर्ष पर ठीक ही पहुँचे थे कि "अहिंसा सब सामाजिक कार्यों की मानदंड नहीं हो सकती । हमारी चिन्ता का केन्द्र-बिन्दु अधिक न्याय-सम्मत और सौहार्दपूर्ण सामाजिक व्यवस्था होनी चाहिए—और इसकी स्थापना आरंभ में बलात् ही हो सकती है, क्योंकि आरंभ में पुरानी व्यवस्था की दुर्दान्त हिंसा से इसकी रक्षा करना आवश्यक है, क्योंकि वह व्यवस्था असमानता, पूंजीवादी शोषण, इससे उत्पन्न सैनिक साम्राज्यवाद, और कम से कम तीन–चौथाई जनता के दमन पर आधारित है ।" भारत के दलितों के महानतम और सच्चे नेता अंबेडकर का कहना था "मैं अहिंसा के सिद्धान्त का आदर करता हूं, किन्तु तभी जब वह कायरतापूर्ण समर्पण से प्रेरित नहीं हो । कायरता, दासता और असाहाय्य का जीवन मनुष्य के सर्वथा अयोग्य है । मैं सन्त तुकाराम के साथ इस बात में सहमत हूं कि **अत्याचारियों का नाश भी एक प्रकार की अहिंसा ही है । सब प्राणियों के प्रति प्रेम और करुणा अहिंसा के सिद्धान्त का एक अंग है, किन्तु सब दुष्कर्मियों का नाश अहिंसा का और भी अधिक महत्त्वपूर्ण अंग है ।** इसके बिना अहिंसा सारहीन और पाखंड है । हमारा आदर्श शक्ति और शील होना चाहिए । रोमां रोलां और अंबेडकर के ये वचन गीता और धर्मशास्त्रों से सर्वथा संगत हैं । किन्तु यदि ये उनके अनुसार नहीं भी हों तो भी ये कम प्रामाणिक नहीं होते ।

"अपराजित"

संगम जगर्लमुडी, जि गुंटूर–522213

प्रोफेसर मूर्ति के लेख से सम्बन्धित कुछ विचार्य प्रश्न

प्रोफेसर मूर्ति का लेख तीन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाता है जिनपर विचार न केवल दार्शनिक दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण है बल्कि सामयिक भी है । लेख में मैंने इन प्रश्नों से सम्बन्धित स्थलों को रेखांकित कर दिया है । यदि प्रोफेसर मूर्ति तथा अन्य विचारक भी **उन्मीलन** के अगले अंक में इन पर अपने विचार प्रस्तुत करें तो बहुत सुन्दर होगा । ये प्रश्न निम्न हैं :

1. मानव-बुद्धि, या कहें विचार-शक्ति, इतिहास की उपज है, किन्तु वह इतिहास का सर्जन भी कर सकती है । ज्ञान-मूलक कर्म यथार्थ को आदर्श के अनुसार बदल सकता है ।

यहां प्रश्न है कि विचार इतिहास की उपज होकर इतिहास का सर्जक कैसे हो सकता है ? यह केवल एक ही प्रकार से संभव है, कि कार्य को कारण से स्वतंत्र माना जाय । किन्तु तब विचार को इतिहास की उपज कहने से कोई प्रयोजन सिद्ध होता नहीं दिखायी देता । एक दूसरा तात्पर्य यह हो सकता है कि इतिहास को निर्धारणात्मक नहीं मानकर स्वातंत्र्यमूलक

माना जाय। किन्तु तब मानव-बुद्धि का इतिहासात्मक होना उसके स्वतंत्र होने का हेतु होना चाहिए; किन्तु वैसा भी मार्क्स को स्वीकार नहीं है। तब मार्क्स के इस प्रतिपादन का क्या तात्पर्य और औचित्य है? इस सन्देह का एक उत्तर हो सकता है कि विचार की इतिहास-जन्यता और उसके स्वातंत्र्य में विरोध तर्कमूलक है, किन्तु तर्क वस्तु का विश्वसनीय ज्ञापक नहीं है, इसलिए यह विरोध मार्क्स के प्रतिपादन को अप्रतिष्ठित नहीं बनाता। किन्तु तब प्रश्न होगा कि, ऐसी अवस्था में मार्क्सीय प्रतिपादन की सत्यता का निर्णय कैसे हो? दूसरे, मार्क्स स्वयं बुद्धि : तर्क-युक्ति : को भावी इतिहास का निर्धारक कहता है। तब एक अचूक समाधान यह हो सकता है कि जिस प्रकार तर्क-बुद्धि भावी इतिहास की निर्धारक है उसी प्रकार वह अतीत इतिहास की भी थी। इस प्रकार इतिहास वास्तव में बुद्धिमूलक आदर्श-परंपरा हो जाता है। किन्तु मार्क्स को इससे अधिक कोई निष्कर्ष अप्रिय नहीं हो सकता।

2. दूसरा प्रश्न अस्पृश्यता-निवारणविषयक गांधी जी के विचार की श्वैट्ज़र-कृत आलोचना से सम्बन्धित है। मैं समझता हूं कि यह प्रसंग गांधीजी और श्वैट्ज़र के मौलिक दृष्टि-भेद का द्योतक है। गांधीजी की दृष्टि में भावना परिस्थितियों की जनक है और श्वैट्ज़र की दृष्टि में परिस्थितियां भावना की : ऐसा श्वैट्ज़र के इस कथन से आपादित होता है। इस विशेष प्रसंग में, गांधीजी के अनुसार, निर्धनता मनुष्य के लिए अपमान-जनक नहीं है : मनुष्य के सहज आत्म-सम्मान को चुनौती नहीं है। कोई व्यक्ति निर्धन हो कर भी आत्मसम्मान-युक्त हो सकता है और धनियों के लिए भी सम्मानजनक हो सकता है: मनु के अनुसार निर्धनता सद्ब्राह्मण का लक्षण है। किन्तु अस्पृश्यता व्यक्ति में और व्यक्ति के प्रति मौलिक असम्मान-दृष्टि है।

3. तीसरा प्रश्न रोमाँ रोलां और सन्त तुकाराम के कथनों से सम्बन्धित है। एक प्रकार से उनके मत को इस तरह रखा जा सकता है : "कर्म में नहीं, परिणाम में अहिंसा अभीष्ट है।" इस पर दो "ब्राह्मात्मक" आपत्तियां हो सकती हैं : (1) परिणाम का पूर्वनिर्धारण कैसे संभव है? प्रायः सभी क्रांतियों की परिणति विपरीत देखी जाती है। (2) अत्याचारी और उपकारी का निर्णय कौन करेगा? प्राय: सभी विग्रहों में दोनों पक्ष दूसरे को अत्याचारी कहते हैं। व्यवहार में इसके निर्णय की कठिनाइयां अलंध्य होने पर भी हम यह स्वीकार करने को तैयार हैं कि अत्याचारी वह है जो हृदय से अत्याचारी है और उपकारी वह है जो हृदय से उपकारी है : नीति में प्रमाण अन्तःकरण-प्रवृत्ति है। यही गांधी जी और सन्त तुकाराम को भी सम्मत होगा। किन्तु तब सन्त तुकाराम को गांधी जी का उत्तर होगा कि "आप अत्याचारी के विनाश" की बात कह कर मनुष्य की मौलिक अतिक्रान्तता को, मार्क्स के शब्दों में "बुद्धि-द्वारा इतिहास के अतिक्रमण की सामर्थ्य को," उसकी स्वातंत्र्यस्वरूपता को, नकारते है। यद्यपि व्यवहारतः यह असंभवप्राय है कि रावण और उसकी सेनाओं को कोई सुधार सकता, किन्तु तब दुष्ट-दलन "व्यवहार-कौशल" तो है, "कर्म-कौशल" नहीं। "कर्म-कौशल" (केटेगोरी-कल इम्पेरेटिव) दुर्जन-दलन में नहीं, दौर्मनस्य-दलन में है।

यहां प्रोफेसर देवराज के पीछे संकलित लेख में गान्धी जी पर टिप्पणी का उल्लेख भी स्थाने होगा। उन्होंने जन-संख्या-वृद्धि रोकने के लिए गान्धी जी के बताये उपाय ब्रह्मचर्य को अव्यावहारिक बताया है। वह अवश्य अव्यावहारिक है किन्तु हम समझते हैं कि यह अव्यावहारिकता गान्धीत्व का अनिवार्य वैशिष्ट्य है। गान्धी जी व्यावहारिकता से आदर्श को नहीं, आदर्श से व्यवहार को नियत करना आवश्यक मानते थे। इसी से वे कभी जनसंख्या-नियंत्रण के लिए बाह्य निरोधों को स्वीकार नहीं कर सकते थे। इसी प्रकार सत्याग्रह उनके लिए **संघर्ष की एक प्रणाली** नहीं था, वह सत्य के साथ अपनी चेतना को जोड़ना था और परिणामतः ब्रह्मचर्य से अवियोज्य था। संघर्ष-प्रणाली के रूप में आमरण अनशन और अपने को तेल डाल कर जलाने में कोई मौलिक अन्तर नहीं रहेगा और न तब प्रणाली के रूप में शस्त्र-प्रयोग में कुछ अनौचित्य रहेगा, यदि वैसा करना व्यावहारिक दृष्टि से अधिक उपयोगी हो तो !

अब प्रश्न है : (1) गान्धीत्व क्या है ? गान्धीत्व की हमारी व्याख्या सही होने पर, (2) वह कहां तक स्वीकार्य है ? (3) जबकि आदर्श का व्यवहार्य होना तर्कतः अपेक्षित है, क्या इस व्यवहार्यता का निर्धारण प्रस्तुत स्थिति से होना चाहिए या कि मानव की संभावनाओं से ?

यशदेव शल्य

दर्शन-प्रतिष्ठान की संचालन-समिति

उन्मीलन का प्रकाशन व्यक्तिगत रूप से और व्यक्तिगत आधार पर नहीं किया जा रहा है। इस प्रकार की पत्रिका की आवश्यकता बहुत लोग अनुभव कर रहे थे, मैंने केवल उस अभाव की पूर्ति का उन सब की ओर से उपक्रम किया है। इस उपक्रम के लिए मैंने कुछ प्रमुख दार्शनिक बन्धुओं से सहयोग की याचना की और उन्होंने वह मुझे सहर्ष दिया। इस प्रकार यह पत्रिका एक सार्वजनिक प्रयत्न है और तदनुसार इसे एक संस्था का रूप दिया जा रहा है। इस उद्देश्य से इसकी एक संचालन-समिति बनायी गई है और इसका विधान शीघ्र बनाया जायगा। इस बीच अध्यक्ष का चयन भी किया जायगा। संचालन-समिति के सदस्य निम्नलिखित हैं :

1. प्रोफेसर क० सच्चिदानन्द मूर्ति, विशाखपत्तनम्।
2. प्रोफेसर गोविन्दचन्द्र पांडे, इलाहाबाद।
3. डा० छाया राय, जबलपुर।
4. प्रोफेसर ज० अ० याज्ञिक, अहमदाबाद।
5. प्रोफेसर दयाकृष्ण, जयपुर।
6. प्रोफेसर नारायण शास्त्री द्रविड़, नागपुर।
7. प्रोफेसर बसन्तकुमार लाल, बोध गया।
8. प्रोफेसर भुवन चंदेल, चंडीगढ़।
9. यशदेव शल्य, जयपुर।
10. प्रोफेसर राजेन्द्रप्रसाद, कानपुर।
11. प्रोफेसर राजेन्द्र पाण्डेय, रायपुर।
12. प्रोफेसर रूपरेखा वर्मा, लखनऊ।
13. डा० ह० माहेश्वरी, पांडिचेरि।

पत्रिका-विषयक कुछ निवेदन

1. पहले **उन्मीलन** की प्रकाशन-अवधि त्रैमासिक रखने का विचार था। किन्तु अभीष्ट स्तर के लेख प्राप्त करने की कठिनाई को देखते हुए अभी यह अवधि षाण्मासिक रखी जा रही है। वर्ष में ये दो अंक क्रमशः जनवरी और अगस्त में प्रकाशित होंगे। प्रयत्न किया जायगा कि एक अंक में कम से कम 100 पृष्ठ रहें, अधिक कितने भी हो सकते हैं। किन्तु पृष्ठ संख्या के लिए ऐसे लेख प्रकाशित नहीं किये जायेंगे जो पत्रिका की प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं हों। परिणामतः पृष्ठ संख्या 100 से कम भी हो सकती है और उसकी भी कोई सीमा नहीं रखी जा सकती। किन्तु हम भरसक प्रयत्न करेंगे कि उच्च स्तर के लेख अधिक से अधिक संख्या में प्राप्त हों, यही इस पत्रिका का उद्देश्य भी है। हमें पूर्ण आशा है कि इसमें हम सफल होंगे।

3. हमारा प्रयत्न होगा कि पत्रिका में मुद्रण की कोई अशुद्धि नहीं रहे। इसमें लेखकों का सहयोग भी आवश्यक है। उनसे अनुरोध है कि लेख सुपाठ्य अक्षरों में लिखकर या टंकित कराकर भिजवाएं।

4. अंग्रेज़ी या अन्य किसी भाषा के पर्यायवाची शब्द केवल वहीं दें जहां बहुत आवश्यक हो और ये शब्द देवनागरी लिपि में दें।

5. संस्कृत के उद्धरण हिन्दी में अनुवाद-सहित दें और अनुवाद पाठ में तथा मूल पाद-टिप्पणी में दें। अन्य किसी भाषा के उद्धरण मूल में नहीं दें।

6. पाद-टिप्पणियों में प्रकाशक का नाम और प्रकाशन-वर्ष अवश्य दें और पुस्तक या लेख का नाम रेखांकित करें।

भाषा और विषय

1. इस अंक के प्रायः सभी लेखों की भाषा संस्कृत-शब्द-बहुल है। हमारे विचार में इसके अतिरिक्त कोई उपाय भी नहीं है। किन्तु यदि कोई लेखक हिन्दी के प्रचलित शब्दों से ही काम चला सके तो वह अधिक वरेण्य होगा।

2. विषय की दृष्टि से लेख तीन प्रकार के हो सकते हैं : (1) मौलिक, (2) आलोचनात्मक, (3) व्याख्यात्मक। हम इनमें से प्रथम दो प्रकार के लेखों का अधिक स्वागत करेंगे। तीसरे प्रकार के लेख केवल तभी स्वीकार किये जायेंगे यदि लेखक किसी दार्शनिक की प्रचलित व्याख्याओं को सदोष मानकर अपनी नयी व्याख्या प्रस्तुत करे। संस्कृत या अन्य देशी-विदेशी भाषाओं के लेखों के अनुवादों का भी स्वागत होगा। किन्तु उसके लिए अनुवादक को संपादक से पूर्व अनुमति लेनी चाहिए। समकालीन भारतीय दार्शनिकों पर उच्च स्तर के परिचयात्मक लेखों का भी स्वागत होगा।

3. पत्रिका का कोई मताग्रह नहीं होगा।

समीक्षार्थ प्राप्त पुस्तकें

1. **भारतीय परम्परा के मूल स्वर**; ले० गोविन्दचन्द्र पांडे; प्रकाशक नैशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1981; पृ. सं 130, मूल्य 30/–
2. **फाउंडेशंस् ऑफ इंडियन कल्चर**, भाग 1–2, ले० गोविन्दचन्द्र पांडे, प्रकाशक मुंशीराम मनोहरलाल, नई दिल्ली, 1984, पृ. सं. 364+286, मूल्य 300/-
3. **बिलीफ्स, रीज़ंस एंड रीफ्लेक्शंस**; ले० स० स० बार्लिंगे, प्र० इंडियन फिलासफीकल क्वार्टर्ली पब्लिकेशंस्, पुणे; 1983, पृ. सं. 250, मूल्य-70
4. **आई एम दाऊ**, ले० रामचन्द्र गान्धी; प्र० इंडियन फिलासफीकल क्वार्टर्ली पब्लिकेशंस्, 1984, पृ. सं. 512, मू० 70/–
5. **मनुष्य और जगत्**, ले० यशदेव शल्य, प्र० इन्दु प्रकाशन, दिल्ली, 1985, पृ. सं. 150, मूल्य 40/–

लेखक-परिचय

1. **गोविन्दचन्द्र पांडे**—जन्म 1923, इलाहाबाद। 1957 से 1983 तक क्रमशः गोरखपुर, राजस्थान तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालयों में प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति के प्रोफेसर, सिवाय 1974–77 के अन्तराय के, जब वे राजस्थान विश्वविद्यालय के कुलपति रहे। 1983 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कार्यवाहक कुलपति के रूप में सेवा-निवृत्त। संप्रति भारतीय इतिहासिक अनुसंधान परिषद् के राष्ट्रीय फैलो। पांडे जी के 50 से अधिक लेखों के अतिरिक्त निम्न ग्रंथ प्रकाशित: 1. स्टडीज़ इन दि ऑरिजिंस् ऑफ बुद्धिज्म; 2. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास; 3. मूल्यमीमांसा; 4. दि मीनिंग एंड प्रॉसेस आफ कल्चर; 5. भारतीय परम्परा के मूल स्वर; 6. फाउंडेशंस् ऑफ इंडियन कल्चर; 7. जैन पुलिटिकल थॉट, 8. क्षण और लक्षण; तथा 9. अग्नि-बीज (काव्य-संग्रह)।

   1. अपोहसिद्धि, 2. न्यायबिन्दु (दोनों अनुवाद और व्याख्या) 3. इतिहास : स्वरूप और सिद्धांत (संपादित)।

2. **यशदेव शल्य**—जन्म 1928, फरीदकोट (पंजाब)। अखिल भारतीय दर्शन परिषद् तथा दार्शनिक त्रैमासिक की स्थापना 1954; परिषद् के मंत्री—1954–70; अध्यक्ष—1974–80, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् के वरिष्ठ फैलो—1982-85। पत्रिकाओं का संपादन : (1) दार्शनिक त्रैमासिक—1954–56, 1958–68, 1970–77; (2) तत्त्वचिन्तन—1968–70; (3) दर्शन-समीक्षा—1971–74। लेखन—बहुत से लेखों के अतिरिक्त निम्न ग्रंथ—(1) पन्त का काव्य और युग; (2) मनस्तत्त्व; (3) दार्शनिक विश्लेषण; (4) ज्ञान और सत्; (5) संस्कृति : मानव-कर्तृत्व की व्याख्या; (6) विषय और आत्म; (7) मनुष्य और जगत्; (8) सत्ताविषयक अन्वीक्षा (प्रकाश्य)। संपादित ग्रंथ—1. अनुभववाद; 2. समकालीन दार्शनिक समस्याएं।

3. **नारायण शास्त्री द्रविड़**—नागपुर विश्वविद्यालय से 1983 में दर्शन के प्रोफेसर पद से सेवानिवृत्त होने के पश्चात् हवाई में फैलो, संप्रति भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान-परिषद् के वरिष्ठ फैलो। अनेक लेखों के अतिरिक्त मराठी में वेदान्त पर एक ग्रंथ प्रकाशित।

4. **प्रेमलता शर्मा**—जन्म 1958। सांख्य दर्शन में मनुष्य की अवधारणा पर शोध।

5. **न० कि० देवराज**—जन्म 1917, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी में दर्शन के प्रोफेसर तथा दर्शन के उच्च अध्ययन केन्द्र के निदेशक पद से 1978 में सेवानिवृत्त। अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के अध्यक्ष 1967–74। प्रोफेसर देवराज के हिन्दी

में 9 काव्य-संग्रह, 7 उपन्यास, 5 साहित्यालोचना के ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं तथा उन्होंने संस्कृति तथा दर्शन विषयक निम्न ग्रंथ लिखे हैं : 1. दि फिलॉसफी ग्रॉफ कल्चर; 2. दि माइंड एंड स्पिरिट ग्राफ इंडिया; 3. हिन्दुइज्म एंड क्रिश्चियानिटी; 4. फिलॉसफी, रिलिज्यन एंड कल्चर; 5. हिन्दुइज़्म एंड दि मॉडर्न एज; 6. भारतीय संस्कृति, महाकाव्यों के ग्रालोक में । इंडियन फिलॉसफी टु-डे (संपादित) ।

6. क० **सच्चिदानन्द मूर्ति**—जन्म 1924, ग्रन्ध्र विश्वविद्यालय में 1962 से 1984 तक दर्शन के प्रोफेसर रहने के पश्चात् सेवा-निवृत्त, इसी बीच तिरुपति विश्वविद्यालय के कुलपति; 1959 में प्रिंस्टन विश्वविद्यालय में ग्रतिथि प्रोफेसर; संप्रति बौद्ध ग्रध्ययन केन्द्र नागार्जुन विश्वविद्यालय के निदेशक तथा इंडियन फिलॉसफी कांग्रेस के ग्रध्यक्ष, तथा भारतीय दार्शनिक ग्रनुसन्धान परिषद् के राष्ट्रीय फैलो । 1984 में भारत सरकार द्वारा पद्मभूषण की उपाधि से सम्मानित, ग्रनेक लेखों के ग्रतिरिक्त निम्न ग्रंथ प्रकाशित—रेवेलेशन एंड रीज़न इन ग्रद्वैत वेदान्त; 2. स्टडीज़ इन दि प्राब्लम्स ग्रॉफ पीस; 3. मैटाफिज़िक्स, मैन एंड फ्रीडम; 4. इंडियन फॉरिन पॉलिसी; 5. दि इंडियन स्पिरिट; 6. फिलॉसफी इन इंडिया; 7. दि रैल्म ग्रॉफ बिटवीन, 8. फॉर ईस्टर्न फिलॉसफीज़ । संपादन—1. समकालीन भारतीय दर्शन; 2. करेंट ट्रेंड्ज़ इन इंडियन फिलॉसफी; 3. तेलगू विश्वकोश का दर्शन ग्रौर धर्म खंड, 4. रीडिंग्स इन इंडियन हिस्ट्री, पॉलिटिक्स एंड फिलॉसफी ।

विषय–सूची

क्र०सं०			पृ०सं०
1.	सम्पादकीय		1
2.	तत्त्वमीमांसा का जन्म और निधन	गोविन्द चंद्र पांडे	7
3.	मूल्य : विषयि-सत्ता	यशदेव शल्य	13
4.	आत्म-अनात्मवाद पर एक विहंगम दृष्टि	नारायण शास्त्री द्रविड़	24
5.	सांख्य पर शंकर के आक्षेपों का सांख्यीय समाधान	प्रेमलता शर्मा	33
6.	भारत में दर्शन की सांप्रतिक स्थिति	न० कि० देवराज	50
7.	शान्ति का अन्वेषण	क० सच्चिदानंद मूर्ति	58
8.	प्रोफेसर मूर्ति के लेख से सम्बन्धित कुछ विचार्य प्रश्न	यशदेव शल्य	62
9.	सूचनाएं तथा निवेदन		65-68

दर्शन-प्रतिष्ठान

पी-51, मधुवन पश्चिम, टोंक रोड, जयपुर-30201 5

मुद्रक : दी कपूर प्रेस, डिग्गी हाऊस, जयपुर ।